उत्साह बिना तप निरर्थक है। यह जिनेन्द्र का मार्ग वात्सल्य द्वारा ही शोभा पाता है। वात्सल्य से ही शुभ ध्यान की बुद्धि होती है। वात्सल्य से ही सम्यग्ज्ञान निर्दोष होता है। वात्सल्य से ही दान देना कृतार्थ–सफल होता है। पात्र में प्रीति बिना तथा देने में प्रीति बिना दान निंदा का कारण है।

जिनवाणी में जिसे वात्सल्य होगा उसे ही प्रशंसा योग्य जिनवाणी का सच्चा अर्थ उद्योतरूप-प्रकट होगा। जिसको जिनवाणी में वात्सल्य नहीं, विनय नहीं उसे यथावत् अर्थ नहीं दिखेगा, वह तो विपरीत ही ग्रहण करेगा। इस मनुष्य जन्म का मंडन वात्सल्य ही है। वात्सल्य रहित बहुत मनोज्ञ आभरण, वस्त्र धारण करना भी पद–पद में निंद्य होता है। इस लोक का कार्य जो यश का उपार्जन, धर्म का उपार्जन, धन का उपार्जन है वह वात्सल्य से ही होता है। परलोक–स्वर्गलोक में महर्द्धिक देवपना भी वात्सल्य से ही होता है। वात्सल्य बिना इस लोक का समस्त कार्य नष्ट हो जाता है, परलोक में भी देवादि गति प्राप्त नहीं होती है।

जिसे अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, स्याद्वादरूप परमागम, दयारूप धर्म में वात्सल्य है, वही संसार परिभ्रमण का नाश करके निर्वाण को प्राप्त करता है। वात्सल्य ही से जिनमंदिर की वैयावृत्य, जिनसिद्धांतों का सेवन, साधर्मियों की वैयावृत्य, धर्म में अनुराग, दान देने में प्रीति होती है। जिन्होंने छह काय के जीवों पर वात्सल्य दिखाया है, वे ही तीनलोक में अतिशयरूप तीर्थंकर प्रवृत्ति का बंध करते हैं। इसलिये जो कल्याण के इच्छुक हैं वे भगवान जिनेन्द्र द्वारा उपदेशित वात्सल्य गुण की महिमा जानकर सोलहवीं वात्सल्य भावना का स्तवन–पूजन करके उसका महान अर्घ उतारण करते हैं। वे ही दर्शन की विशुद्धता पाकर, तपरूप आचरण करके, अहमिन्द्रादि देवलोक को प्राप्त होकर पश्चात् जगत के उद्धारक तीर्थंकर होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। सोलहकारण धर्म की महिमा अचिन्त्य है जिससे तीनलोक में आश्चर्यकारी अनुपम वैभव के धारक तीर्थंकर होते हैं। ऐसी सोलहकारण भावना का संक्षेप–विस्ताररूप वर्णन किया ।१६।

धर्म के दश लक्षण - धर्म का स्वरूप दश लक्षण रूप है। इन दश चिह्नों के द्वारा अंतरंग धर्म जाना जाता है। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य – ये दश धर्म के लक्षण हैं।

धर्म तो वस्तु का स्वभाव है, स्वभाव को ही धर्म कहते हैं। लोक में जितने पदार्थ हैं वे सब अपने–अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ते हैं। यदि स्वभाव का नाश हो जाये तो वस्तु का अभाव हो जाये किन्तु ऐसा नहीं होता है।

आत्मा नाम की वस्तु है, उसका स्वभाव क्षमादि रूप है। क्रोधादि कर्मजनित उपाधि है, आवरण है। क्रोध नाम की कर्म की उपाधि का अभाव होने पर क्षमा नाम का आत्मा का स्वभाव स्वयं ही प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार मान के अभाव से मार्दव गुण, माया के अभाव से आर्जव गुण, लोभ के अभाव से शौच गुण इत्यादि जो आत्मा के गुण हैं वे कर्म के अभाव से स्वयमेव प्रकट होते हैं। जो ये उत्तम क्षमादि आत्मा के स्वभाव हैं, वे मोहनीय कर्म के भेद क्रोधादि कषायों द्वारा अनादिकाल से आच्छादित हो रहे हैं। कषायों के अभाव से क्षमादि आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं।

उत्तम क्षमा धर्म

अब उत्तमक्षमा गुण के स्वरूप का वर्णन करते हैं। **क्रोध बैरी का जीतना वही उत्तमक्षमा है।** कैसे है क्रोध बैरी? इस जीव के निवास स्थान जो संयमभाव, सन्तोषभाव, निराकुलता भाव, सम्यग्दर्शन आदि रत्नों का भण्डार उन्हें जलाने के लिये अग्नि के समान है। यश का नाश कर देता है, अपयशरूप कालिमा को बढ़ाया है, धर्म–अधर्म का विचार नष्ट कर देता है। क्रोधी के मन–वचन–काय अपने वश में नहीं रहते हैं। बहुत दिनों की प्रीति को क्षणमात्र में बिगाड़कर महान बैर उत्पन्न कर देता है।

जो क्रोधरूप राक्षस के वश में हो जाता है वह असत्य वचन, लोक निंद्य वचन, भील चाण्डालादि के योग्य वचन बोलने लगता है। क्रोधी समस्त धर्म का लोप कर देता है। क्रोधी होकर पिता को मार डालता है; माता को, पुत्र को, स्त्री को, बालक को, स्वामी को, सेवक को, मित्र को भी प्राण रहित कर देता है। तीव्र क्रोधी तो विष से, शस्त्र से, स्वयं का ही घात कर लेता है; ऊँचे मकान से, पर्वतादि से गिरकर, कुए में कूद कर मर जाता है। क्रोधी की किसी प्रकार प्रतीति नहीं करना। क्रोधी तो यमराज तुल्य है। क्रोधी पहले तो अपने ज्ञान, दर्शन, क्षमादि गुणों का घात करता है; पश्चात् कर्म के वश से अन्य का घात हो या न हो। **क्रोध के प्रभाव से महातपस्वी दिगम्बर मुनि भी धर्म से भ्रष्ट होकर नरक गये हैं।**

क्रोध दोनों लोकों का नाश करनेवाला है, महापाप बंध कराकर नरक पहुँचाता है, बुद्धि भ्रष्ट करता है, निर्दयी बना देता है, दूसरों के द्वारा किये गये उपकार को भुला कर कृतघ्नी बना देता है। अतः क्रोध के समान पाप अन्य नहीं है। इस लोक में क्रोधादि कषायों के समान अपना घात करनेवाला दूसरा नहीं है। **जो लोक में पुण्यवान हैं, महा भाग्यवान हैं, जिनके दोनों लोक सुधरना हैं उन्हीं के क्षमा गुण प्रकट होता है।**

क्षमा अर्थात् पृथ्वी, उसके समान सहने का स्वभाव होना वह क्षमा है। अपने सम्यक् स्वरूप को, हित–अहित को समझकर, असमर्थों द्वारा किये हुये उपद्रवों को आप समर्थ होकर भी राग–द्वेष रहित होकर सहना, विकारी नहीं होना उसे उत्तमक्षमा कहते हैं।

यहाँ उत्तम शब्द सम्यग्दर्शन सहित होने के लिये कहा है। उत्तमक्षमा तीनलोक में सार है। उत्तमक्षमा संसार समुद्र से तारनेवाली है, रत्नत्रय को धारण करानेवाली है, दुर्गति के दुःखों को हरनेवाली है। जिसके उत्तमक्षमा होती है, उसका नरक–तिर्यंच दोनों गतियों में गमन नहीं होता है। उत्तमक्षमा के साथ अनेक गुणों का समूह प्रकट होता है। मुनिराजों को तो अति प्यारी उत्तमक्षमा ही है। उत्तम क्षमा की प्राप्ति को ज्ञानीजन तो चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति के समान लाभ मानते हैं। उत्तमक्षमा ही मन की उज्ज्वलता करती है। क्षमागुण के बिना मन की उज्ज्वलता तथा स्थिरता कभी नहीं होती है। वांछित अभिप्राय की सिद्धि करनेवाली एक उत्तमक्षमा ही है।

क्रोध को जीतने का उपाय : क्रोध को जीतने की विधि इस प्रकार है – कोई आप को दुर्वचनादि कहकर दुःखी करे, गाली दे, चोर कहे, अन्यायी, पापी, दुराचारी, दुष्ट, नीच, दोगला, चाण्डाल,

कृतघ्नी – ऐसे अनेक दुर्वचन कहे, तो ज्ञानी को **ऐसा विचार करना चाहिये** – मैंने इसका अपराध किया है या नहीं किया? यदि मैंने इसका अपराध किया है, तथा राग–द्वेष–मोह के वश होकर किसी बात से इसका चित्त दुखाया है तो मैं अपराधी हूँ, मुझे गाली देना, नीच, चोर, कपटी, अधर्मी कहना न्याय है। मुझे इससे अधिक दण्ड देता तो भी ठीक था। मैंने अपराध किया है, अब मुझे गाली सुनकर क्रोध नहीं करना ही उचित है। अपराधी को नरक में भी दण्ड भोगना पड़ता है। मेरे निमित्त से इसको दुःख हुआ है। तब दुःखी होकर दुर्वचन कह रहा है, ऐसा विचार कर दुःखी न होकर क्षमा ही करता है।

यदि दुर्वचन कहनेवाला मंदकषायी हो तो आप जाकर उससे क्षमा मांगकर उसे क्षमा ग्रहण करने को कहे : हे कृपालु! मैं अज्ञानी हूँ, मैंने प्रमाद व कषाय के वश होकर आपका चित्त दुखाया है, अतः अब मैं अपने अपराध की माफी चाहता हूँ; भविष्य में ऐसा कार्य भूलकर भी नहीं करूगाँ। एक बार किसी से भूल हो जाय तो बड़े लोग उसे माफ कर देते हैं। यदि सामनेवाला न्यायरहित तीव्र कषायी हो तो उसके पास अपराध माफ कराने नहीं जाये, कालान्तर में उसका क्रोध उपशान्त होने के पश्चात् क्षमा मांगे।

यदि आपने अपराध किया नहीं हो, किन्तु ईर्ष्याभाव से व केवल दुष्टता से आपको दुर्वचन कहता है तथा अनेक दोष लगाता है तो ज्ञानी कुछ भी संक्लेश नहीं करे, किन्तु **इस प्रकार विचार करे** – यदि मैंने इसका धन हरण किया हो, जमीन जगह छीनी हो, इसकी जीविका बिगाड़ी हो, चुगली खाई हो, इसके दोष कहकर मैंने अपराध किया हो तो मुझे पश्चाताप करना उचित है; यदि मैंने इसका अपराध नहीं किया है तो मुझे कुछ भी फिकर नहीं करना।

ये दुर्वचन कहता है सो नाम को कहता है तथा कुल को कहता है, किन्तु **नाम मेरा स्वरूप नहीं है, जाति कुलादि मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो ज्ञायक हूँ।** जिसको ये कहता है, वह मैं नहीं हूँ। जो मै हूँ उस तक दुर्वचन पहुँचते ही नहीं हैं। अतः मुझे क्षमा करना ही श्रेष्ठ है। यह जो दुर्वचन कहता है सो मुख इसका, अभिप्राय उसका, जिह्वा–दंत–ओष्ठ इसका, भाषारूप पुद्गल शब्द इसके भावों के निमित्त से उत्पन्न हुए, जिन्हें सुनकर यदि मैं विकार को प्राप्त होता हूँ तो यो मेरी बड़ी अज्ञानता है।

जो ईर्ष्यावान दुष्ट पुरुष मुझे गाली देता है, यदि स्वभाव से देखो तो गाली कोई वस्तु ही नहीं है। मुझे कहीं पर भी लगी हुई नहीं दिखाई देती है। अतः अवस्तु में लेने–देने का व्यवहार ज्ञानी होकर कैसे स्वीकार करे?

जो मुझे चोर, अन्यायी, कपटी, अधर्मी इत्यादि कहता है, तब ज्ञानी इस प्रकार विचार करता है – हे आत्मन्! तू अनेक बार चोर हुआ, अनेक जन्मों में व्यभिचारी, जुआरी, अभक्ष्यभक्षी, भील, चाण्डाल, चमार, गोला, बांडा, शूकर, गधा इत्यादि तिर्यंच तथा अधर्मी, पापी, कृतघ्नी हो–होकर आया है तथा संसार में भ्रमण करते हुए अनेक बार होगा। अब यदि कोई तुझे कूकर, शूकर, चोर, चांडाल

कहता है, उसे सुनकर तेरा दु:खी होना बड़ा अनर्थ है। **ये दुष्टजन जो दुर्वचन कहते हैं वह इनका अपराध नही है, हमारे द्वारा पूर्व जन्मों में बांधे गये कर्मों का उदय है**; उसके द्वारा दुर्वचन कहने से हमारे उन कर्मों की निर्जरा होती है; यह हमें बड़ा लाभ ही है। इनका यह भी उपकार है कि – ये दुर्वचन कहनेवाले हमारे लिये दुर्वचन कहकर अपने पुण्य के समूह का तो नाश करते हैं तथा मेरे पापों को दूर करके उनकी निर्जरा करते हैं। ऐसे उपकारी पर यदि मैं क्रोध करूँ तो मेरे समान अधम कोई नहीं है।

इसने मुझे दुर्वचन ही तो कहे हैं, मारा पीटा तो नहीं है। क्रोधी तो मारने भी लग जाता है, अपने पुत्र, पुत्री, स्त्री, बालक को भी मारता हैं, किन्तु इसने मुझे मारा तो नहीं है, यही लाभ है। यदि दुष्ट आपको मारे तो ऐसा विचार करना चाहिये – इसने मुझे पीटा ही तो है, प्राणरहित तो नहीं किया है। दुष्ट तो अपना मरण नहीं गिन करके भी अन्य को मार डालता है, किन्तु इसने मुझे प्राण रहित तो नहीं किया है, यही लाभ है। यदि प्राण रहित कर देता है तो **ऐसा विचार करना चाहिये -** एक बार तो मरना ही था, अच्छा ही हुआ, कर्म का ऋण चुका। हम यहाँ पर ही कर्म के ऋण से रहित हो गये, हमारा धर्म तो नष्ट नहीं हुआ है, यही लाभ है, प्राण धारण करना तो धर्म से ही सफल है। ये द्रव्य प्राण तो पुद्गलमय हैं। मेरे ज्ञान, दर्शन, क्षमादि धर्म ये भावप्राण हैं, इनका घात मैंने क्रोध करके नहीं किया, इस समान लाभ मुझे अन्य कुछ भी नहीं है।

जो कल्याणरूप कार्य हैं उनमें अनेक विघ्न आते ही हैं। मुझे भी विघ्न आया वह ठीक ही है। मैं तो अब साम्यभाव की शरण लेता हूँ। यदि उपद्रव आने पर मैं क्षमा छोड़कर क्रोध से विकार रूप हो जाऊँगा तो मुझे देखकर अन्य मन्दज्ञानी तथा कायर त्यागी – तपस्वी धर्म से शिथिल हो जायेंगे, तब मेरा जन्म केवल दूसरों को दु:खी करने के लिये ही हुआ कहलाया। यदि मैं वीतराग धर्म धारण करके भी क्रोधी, विकारी, दुर्वचनी हो जाऊँ तो मुझे देखकर अन्य भी क्रोधी होने लग जायेंगे, तब धर्म की मर्यादा भंग करके पाप की परिपाटी चलानेवाला मैं ही प्रधान हो गया। अत: प्राण जाने पर भी, धन व अभिमान नष्ट होने पर भी मुझे क्षमागुण छोड़ना उचित नहीं है।

पूर्वभय में मैंने अशुभ कर्म बांधे हैं उनका फल मैं ही भोगूगां। ये अन्य जन तो निमित्त मात्र हैं। यदि इनके निमित्त से पाप कर्म उदय में नहीं आता तो किसी अन्य के निमित्त से आता। **उदय में आया हुआ कर्म तो फल बिना टलता नहीं है।** ये लौकिक अज्ञानी मेरे ऊपर क्रोधी होकर दुर्वचन आदि के द्वारा उपद्रव्य करते हैं, यदि मैं भी दुर्वचनारि के द्वारा इनको उत्तर दूँ, तो मैं तत्त्वज्ञानी और ये अज्ञानी, दोनों ही समान हुए, मेरा तत्त्वज्ञानीपना निरर्थक हुआ। न्यायमार्ग से देखो, तो उदय में आया मेरा पाप कर्म, उसकी निर्जरा होने पर, कौन विवेकी अपने आत्मा को क्रोधादि के वशीभूत करेगा?

हे आत्मन्! पूर्व भवों में बांधे हुए असाता कर्मों का अब उदय आया है, उसे इलाज रहित, न रुकनेवाला जानकर समभावों सहो। यदि दु:खी होकर भोगोगे तो असाता को तो भोगोगे ही,

किन्तु नये और बहुत असाता कर्मों का बंध भी करोगे। अत: होनेवाले दु:ख को निशंक होकर समभावों से ही सहो। ये दुष्टजन तो बहुत हैं, वे अपनी सामर्थ्य के द्वारा मुझमें क्रोधरूप अग्नि को प्रज्वलित कराकर, मेरी समभावरूप सम्पत्ति को जला देना चाहते हैं। अब यहाँ यदि मैं असावधान होकर क्षमा को छोड़कर क्रोधी हो जाऊँगा तो अवश्य ही अपना साम्यभाव नष्ट करके, अपना धर्म व यश का नाश करनेवाला हो जाऊँगा। इसलिये दुष्टों का संसर्ग होने पर सावधान रहना ही उचित है।

ज्ञानी मनुष्य तो असह्य दु:ख उत्पन्न होने पर भी अपने पूर्व कर्म का नाश होना जानकर हर्षित ही होते हैं। यदि दुर्वचन रूपी कांटों से पीड़ित किया गया मैं क्षमा छोड़ दूँगा तो क्रोधी और मैं, दोनों ही समान हुए। बैरी यदि अनेक प्रकार के दुर्वचन, पीड़न, मारण द्वारा मेरा इलाज नहीं करता तो मैं अपने पुराने संचित अशुभ कर्मों से कैसे छूटता? अत: बैरी ने तो मुझ पर उपकार ही किया है जो मुझे अशुभ कर्मों से छुड़ा दिया है।

मैंने विवेकी होकर जो जिनागम के प्रसाद से साम्यभाव का अभ्यास किया है, उसकी परीक्षा लेने को ये बैरीरूप परीक्षा का स्थान प्रगट हुआ हैं, यहाँ पर मेरे भावों की परीक्षा हो गई। परीक्षा लेने को ही ये कर्म उदय में आये हैं। यदि मैं समभाव की मर्यादा को तोड़कर बैरियों पर क्रोध करूँगा, तो मैं ज्ञाननेत्र का धारी होकर के भी समभाव को नहीं प्राप्त कर क्रोधरूप अग्नि में जलकर भस्म हो जाऊँगा। मैं वीतराग के मार्ग पर चलनेवाला, संसार की स्थिति छेदने का उद्यम करनेवाला, यदि मेरा ही चित्त क्रोधरूप हो जायेगा तो संसार के मार्ग में प्रवर्तन करनेवाले अन्य मिथ्यादृष्टियों के समान ही मैं ठहरा।

यदि दुष्ट अज्ञानियों को न्यायरूप धर्म का मार्ग बताया, समझाया, क्षमा ग्रहण कराया, किन्तु वे नहीं समझें, क्षमा ग्रहण नहीं करें तो ज्ञानीजन उनसे क्रोध नहीं करते। जैसे – विष दूर करनेवाला वैद्य किसी का विष दूर करने के लिये अनेक औषधि आदि देकर विष दूर करना चाहता है, **किन्तु यदि रोगी का जहर दूर नहीं हो, तो वैद्य स्वयं जहर नहीं खा लेता है -** कि इसका विष दूर नहीं हुआ तो मैं ही विष खाकर मर जाऊँ, ऐसा न्याय भी नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानीजन भी पहले दुष्टों की दुष्टता की जाति पहिचानते हैं कि – यह दुष्टता छोड़ेगा या नहीं छोड़ेगा या अधिक दुष्टता धारण करेगा। ऐसा विचार कर, जिसे विपरीत परिणमता देखे उसे तो उपदेश ही नहीं देना, जो कुछ–समझने लायक योग्यतावाला दिखे उसे न्याय के वचन हितमित रूप कहना। यदि दुष्टता नहीं छोड़े तो आप क्रोधी नहीं होना।

यदि यह मुझे दुर्वचनादि उपद्रव द्वारा भयभीत नहीं करता तो मैं प्रशम भाव द्वारा धर्म की शरण कैसे ग्रहण करता? जो मुझे पीड़ा देनेवाला है, उसने मुझे पाप से भयभीत कराकर धर्म से संबंध कराया है, **इस प्रकार पीड़ा देनेवाले ने मेरा प्रमादीपना छुड़ापर मुझे पर बड़ा उपकार ही किया है।**

जगत में कितने उपकारी तो ऐसे हैं जो दूसरों को सुखी करने के लिए अपना शरीर छोड़ देते हैं, धन छोड़ देते हैं, तो दुर्वचन बन्धनादि सहने में मेरा क्या चला जायेगा? मुझे दुर्वचन कहने से

ही यदि दूसरे को सुख होता है तो मेरी क्या हानि है? मुझे पीड़ा देनेवाले पर यदि मैं क्रोध नहीं करूँगा तो बैरी के पुण्य का नाश हो जायेगा, व मेरे आत्मा के हित की सिद्धि होगी। यदि पीड़ा देनेवाले पर मैं क्रोध करूँगा तो मेरे पुण्य का नाश हो जायगा, हित का नाश हो जायगा व दुर्गति मिलेगी प्राणों का नाश होने पर भी **दुष्टों के प्रति क्षमा करना ही एक हित है**, ऐसा सत्पुरुष कहते हैं। अत: आत्म कल्याण की सिद्धि के लिये मुझे क्षमा ही ग्रहण करना चाहिये।

दुष्टों द्वारा दुर्वचनादि से पीड़ा देने से मुझमें जो क्षमा प्रगट हुई है, वह मेरे पुण्य के उदय से ऐसी परीक्षा भूमि प्रकट हुई है जहां मैंने इतने समय से वीतराग का धर्म धारण किया है, सो अब क्रोधादि के निमित्त से साम्यभाव हुआ कि नहीं हुआ है – ऐसी परीक्षा करना चाहिये। साम्यभाव तो वही प्रशंसा योग्य है, वही कल्याण का कारण है जो मारने के इच्छुक निर्दयी द्वारा मलिन नहीं किया जा सके।

बहुत समय से शास्त्र का अभ्यास करके व साम्यभाव करके क्या साध्य है, यदि प्रयोजन के समय वह व्यर्थ हो जाय? धैर्य वही प्रशंसा योग्य है, जो दुष्टों के कुवचनादि होने पर भी नहीं छूटे, दृढ़ बना रहे। उपद्रव आये बिना तो सभी लोग सत्य, शौच, क्षमा के धारक बने रहते हैं। जैसे चंदन के वृक्ष को कुल्हाड़ी काटे तो चंदन का वृक्ष कुल्हाड़ी के मुख को सुगंधित ही करता है, वैसे ही **जिसकी जैसी प्रवृत्ति होती है उसको वैसी ही सिद्धि की प्राप्ति होती है।**

अन्य के द्वारा किये उपसर्ग से तथा स्वयमेव आये उपसर्ग से जिसका चित्त कलुषित नहीं होता है वह अविनाशी संपदा को प्राप्त होता है। अज्ञानी अपने भावों द्वारा पूर्व में किये गये पाप कर्मों पर तो क्रोध नहीं करता है, किन्तु कर्म का फल देने के जो बाह्य निमित्त हैं उनके ऊपर क्रोध करता है। जिस कर्म के नाश होने से मेरे संसार का संताप नष्ट हो जाये यदि वह कर्म स्वयमेय भोगने में आ गया और नष्ट हो गया तो मुझे वांछित सुख की सिद्धि हो गई।

इस संसाररूप वन में अनन्त संक्लेश भरे हैं। इसमें रहनेवालों को अनेक प्रकार के दु:ख क्या सहने योग्य नहीं हैं? संसार में तो दु:ख ही है। यदि इस संसार में सम्यग्ज्ञान विवेक से रहित, जिनसिद्धान्तों से द्वेष करनेवाले, महानिर्दयी, परलोक के हित का विचार करने की जिनके पास बुद्धि नहीं है, क्रोधरूप अग्नि से प्रज्वलित, दुष्टता सहित, विषयों की लोलुपता से अंधे, हठग्राही, महान अभिमानी, कृतघ्नी ऐसे बहुत दुष्टजन नहीं होते, तो उज्ज्वल बुद्धि के धारक सत्पुरुष व्रत–तपश्चरण करके मोक्ष के लिये उद्यम कैसे करते? **ऐसे क्रोधी, दुर्वचन बोलनेवाले, हठग्राही, अन्यायमार्गियों की अधिकता देख करके ही सत्पुरुष वीतरागी हुए हैं।**

मैं बड़े पुण्य के प्रभाव से परमात्मा के स्वरूप का ज्ञाता हुआ तथा सर्वज्ञ द्वारा उपदेशित पदार्थों का भी निर्णयरूप ज्ञान किया, संसार के परिभ्रमण के दु:खों से भयभीत होकर वीतराग के मार्ग में भी प्रवर्तन किया; अब यदि मैं भी क्रोध के वश में होऊँगा तो मेरा ज्ञान–चारित्र सभी निष्फल हो जायेगा, तथा धर्म का अपयश करानेवाला होकर दुर्गति का पात्र हो जाऊँगा।

आचार्य पद्मनंदि ने तो और भी कहा है : मूर्खजनों द्वारा बाधा, पीड़ा, क्रोध के वचन, हास्य, अपमानादि होने पर भी जो उत्तमपुरुषों का मन विकार को प्राप्त नहीं होता है उसे उत्तम क्षमा कहते हैं। वह क्षमा मोक्षमार्ग में प्रवर्तते पुरुष की परम सहायक होती है। विवेकी ऐसा चिंतवन करते हैं – **हम तो रागद्वेषादि मलरहित उज्ज्वल मन से बैठे हैं, अन्य लोग हमें खोटा कहो या भला कहो, हमें उससे क्या प्रयोजन है? वीतराग धर्म के धारको को तो अपने आत्मा का शुद्धपना साधने योग्य है।**

यदि हमारे परिणाम दोष सहित हैं, तथा कोई हितैषी हमें भला कहता है, तो हम भले नहीं हो जायेंगे। यदि हमारे परिणाम दोष रहित हैं, तथा कोई बैर बुद्धि से हमें खोटा कहता है तो हम खोटे नहीं हो जायेंगे। फल तो जैसी हमारी चेष्टा, परिणाम, आचरण होगा वैसा प्राप्त होगा। जैसे किसी ने काँच को रत्न कह दिया तथा रत्न को काँच कह दिया, तो भी मूल्य तो रत्न का ही पायेगा, काँच के टुकड़े का बहुत धन कौन देगा?

दुष्टजन का स्वभाव तो पर के दोष कहने का है; पर में बिलकुल भी दोष नहीं हो, तो भी पर के दोष कहे बिना उसे सुख नहीं मिलता है। अत: दुष्टजनों, मुझमें जो दोष हैं ही नहीं, वे लोगों के घर–घर में जाकर सभी मनुष्यों को कहकर सुखी होओ; जो धन चाहता हो वह मेरा सब कुछ ग्रहण कर सुखी हो जाओ; जो बैरी मेरे प्राण हरण करना चाहता है वह शीघ्र ही प्राण हरण कर ले; जो मेरा स्थान चाहता है वह स्थान छीन ले; मैं तो मध्यस्थ हूँ, रागद्वेष रहित हूँ। सभी संसार के प्राणी मेरे निमित्त से तो सुखरूप रहो। मेरे निमित्त से किसी प्राणी को कोई भी प्रकार का दु:ख नहीं हो। मैं यह घोषणा करता हूँ – **मेरा जीवन तो आयुकर्म के आधीन है, धन तथा स्थान का चला जाना बना रहना पाप-पुण्य के आधीन है; हमारा किसी अन्य जीव से बैर विरोध नहीं है, सभी के प्रति क्षमा है।**

हे आत्मन्! मिथ्यादृष्टि, दुष्टतासहित, हित–अहित के विवेकरहित, मूढ़ मनुष्यों द्वारा किये गये दुर्वचनादि उपद्रवों से अस्थिर चित्त होकर, बाधा मानकर क्यों दु:खी हो रहे हो? क्या तुम तीन लोक के चूड़ामणि भगवान वीतराग को नहीं जानते हो? क्या तुमने वीतराग धर्म की उपासना नहीं की है? जगत के लोग तो मूर्ख हैं, क्या तुम ऐसा नहीं जानते हो? **मोही, मिथ्यादृष्टि, मूढों का ज्ञान तो विपरीत ही होता है;** वे सब तो कर्मों के वश हैं, इसलिये उनमें क्षमा ग्रहण करना ही योग्य है।

क्षमा ही इसलोक में परमशरण है, माता के समान रक्षा करनेवाली है। बहुत क्या कहें? जिन धर्म का मूल क्षमा है, इसी के आधार से सकल गुण हैं, कर्मों की निर्जरा का कारण है, हजारों उपद्रव दूर करनेवाली है। इसलिये धन व जीवन चले जाने पर भी क्षमा को छोड़ना योग्य नहीं है।

कोई दुष्टता से आपको प्राणरहित करता हो उस समय में भी कटु वचन नहीं कहो। मारने वाले से भी अंतरंग बैर छोड़कर ऐसा कहो – आप जो हमारे रक्षक ही हैं, परन्तु हमारी मृत्यु ही आ गई है, उसमें आप क्या कर सकते हैं? हमारे पाप कर्म का उदय आ गया है, तो भी हमारा

बड़ा भाग्य है जो आप सरीखे महापुरुषों के हाथ आदि से हमारा मरण हो रहा है। यदि हम सरीखे अपराधी को आप दण्ड नहीं दोगे तो न्याय का मार्ग बदनाम हो जायेगा। हम अपने अपराध का फल–नरक–तिर्यँचगति में आगे भोगते, किन्तु आपने हमें यहीं पर कर्म के ऋण से रहित कर दिया। मैं आपसे मन–वचन–काय से बैर विरोध छोड़कर क्षमा माँगता हूँ। आप भी मुझे अपराध का दण्ड देकर क्षमा ग्रहण करो – मैं क्षमा करता हूँ । मैं रोगादि कष्टों को भोगकर अत्यंत दुःख से मरण करता, किन्तु अब धर्म की शरण लेकर, कर्म के ऋण से रहित होकर आप जैसे सज्जन की कृपा सहित मरण करूँगा। इस प्रकार मारनेवाले से भी बैर छोड़कर समभाव धारण करना वह उत्तम क्षमा है। इस प्रकार उत्तम क्षमा धर्म कहा।१।

उत्तम मार्दव धर्म

अब उत्तम मार्दव गुण का स्वरूप कहते हैं। मार्दव का स्वरूप इस प्रकार है : मान कषाय से आत्मा में जो कठोरता होती है, उस कठोरता का अभाव होने पर जो कोमलता होती है वह मार्दव नाम का आत्मा का गुण है। **आत्मा और मान कषाय के भेद को अनुभव करके मान को छोड़ना उसका नाम मार्दव गुण है।** मान कषाय तो संसार का बढ़ानेवाला है, किन्तु मार्दव संसार परिभ्रमण का नाश करनेवाला है। यह मार्दवगुण दयाधर्म का कारण है।

अभिमानी के दयाधर्म का मूल से ही अभाव है, ऐसा जानना। कठोर परिणामी तो निर्दयी होता है। मार्दवगुण सभी का हित करनेवाला है। जिनके मार्दवगुण है उन्हीं का व्रत पालना, संयम धारण करना, ज्ञान का अभ्यास करना सफल है, अभिमानी का सब निष्फल है। मार्दव नाम का गुण मान कषाय का नाश करनेवाला है तथा पाँच इंद्रियों व मन को दण्ड देनेवाला है।

मार्दव धर्म के प्रसाद से चित्तरूप भूमि में करुणारूप नवीन बेल फैलती है। मार्दव द्वारा ही ही जिनेन्द्र भगवान में तथा शास्त्रों में भक्ति का प्रकाश होता है। मद सहित के जिनेन्द्र के गुणों में अनुराग नहीं होता है। मार्दव गुण से कुमतिज्ञान के प्रसार का नाश होता है, कुमति नहीं फैलती है। अभिमानी के अनेक प्रकार की कुबुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। मार्दवगुण से बहुत विनय प्रवर्तती है। मार्दव से बहुत समय का पुराना बैरी भी बैर छोड़ देता है। मान घटने पर परिणामों में उज्ज्वलता होती है।

कोमल परिणामों द्वारा दोनों की सिद्धि होती है – कोमल परिणामी का इस लोक में सुयश होता है, परलोक में देवगति की प्राप्ति होती है। कोमल परिणामों से ही अंतरंग–बहिरंग तप शोभित होते हैं। अभिमानी का तप भी निंदा योग्य है। कोमल परिणामी से तीनों लोकों के जीवों का मन प्रसन्न रहता है। मार्दव द्वारा ही जिनेन्द्र का शासन जाना जाता है। मार्दव द्वारा ही अपने तथा पर के स्वरूप का अनुभव करते हैं। कठोर परिणामी के आपा–पर विवेक नहीं होता है। मार्दव द्वारा ही समस्त दोषों का नाश होता है। मार्दव परिणाम संसार समुद्र से पार कर देता है। अतः मार्दव परिणाम को सम्यग्दर्शन का अंग जानकर निर्मल मार्दव धर्म का स्तवन करो।

संसारी जीवों के अनादिकाल से मिथ्यादर्शन का उदय हो रहा है। उसके उदय से पर्यायबुद्धि हुआ जाति को, कुल को, विद्या को, ऐश्वर्य को, तप को, रूप को, धन को शरीर को, बल को अपना स्वरूप मानकर इनके गर्वरूप हो रहा है। उसे यह ज्ञान नहीं है कि ये जाति–कुलादि सब कर्म के उदय के आधीन पुद्गल के विकार हैं, विनाशीक हैं। मैं अविनाशी ज्ञान–स्वाभावी अमूर्तिक हूँ।

मैंने अनादिकाल से अनेक जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य आदि प्राप्त कर–करके छोड़े हैं। मैं अब किस में अपनापन करूँ? समस्त धन, यौवन, इंद्रिय जनित–ज्ञान आदि विनाशीक हैं, क्षण भंगुर है। इनका गर्व करना संसार में परिभ्रमण का कारण है।

इस संसार में स्वर्गलोक का महाऋद्धिधारी देव मरकर एक समय में एकेन्द्रिय में आकर उत्पन्न हो जाता है, तथा कूकर, शूकर, चांडाल आदि पर्याय को प्राप्त हो जाता है। नवनिधि – चौदह रत्नों का धारक चक्रवर्ती एक समय में मरकर सातवें नरक सातवें नरक का नारकी हो जाता है। बलभद्र, नारायण का ऐश्वर्य भी नष्ट हो गया, अन्य की क्या कहें? जिनकी हजारों देव सेवा करते थे उनका पुण्यक्षय होने पर कोई एक मनुष्य पानी देनेवाला भी नहीं रहा, अन्य पुण्य रहित जीव क्यों मदोन्मत्त हो रहे हैं?

जो उत्तम ज्ञान से जगत में प्रधान हैं, उत्तम तपश्चरण करने में उद्यमी हैं, उत्तम दानी हैं वे भी अपने आत्मा को बहुत छोटा मानते हैं, उनके मार्दव धर्म होता है।

ये विनयवानपना मदरहितपना समस्त धर्म का मूल है, समस्त सम्यग्ज्ञानादि गुणों का आधार है। यदि सम्यग्दर्शनादि गुणों का लाभ चाहते हो, अपना उज्ज्वल यश चाहते हो, बैर का अभाव चाहते हो तो मदों को त्याग कर कोमलपना ग्रहण करो। मद कष्ट हुए बिना विनय आदि गुण, वचन में मिष्टता, पूज्य पुरुषों का सत्कार, दान, सम्मान एक भी गुण प्राप्त नहीं होगा।

अभिमानी के बिना अपराध ही समस्त लोग बैरी हो जाती हैं। सभी लोग अभिमानी की निन्दा करते हैं, सभी लोग अभिमानी का पतन देखना चाहते हैं। स्वामी भी अभिमानी सेवक को छोड़ देता है। गुरुजन भी अभिमानी को विद्या देने में उत्साह रहित हो जाते हैं। अभिमानी का अपना सेवक भी पराङ्मुख हो जाता हे; मित्र, भाई, हितू, पड़ौसी भी इसका पतन चाहते हैं। पिता, गुरु, उपाध्याय को, पुत्र को, शिष्य को विनयवन्त देखकर ही आनंदित हो जाते हैं। अविनयी–अभिमानी पुत्र व शिष्य बड़े पुरुषों के मन को भी दु:खी करते हैं। पुत्र का, शिष्य का, सेवक का तो ये धर्म हैं कि नया कार्य करना हो वह पिता, गुरु, स्वामी को बतलाकर करे, आज्ञा माँगकर करे; यदि आज्ञा मांगने का समय नहीं मिले तो अवसर देखकर शीघ्र ही बतला देवे। ये ही विनय है, ये ही भक्ति है।

जिनके मस्तक पर गुरु विराजमान हैं वे धन्य भाग्य हैं। विनयवन्त मदरहित जो पुरुष हैं वे अपने सभी कार्य गुरु को बतला देते हैं। वे धन्य हैं जो इस कलिकाल में मदरहित कोमल परिणामों द्वारा समस्त लोक में प्रवर्तते हैं। उत्तम पुरुष बालक में, वृद्ध में, रोगियों में, बुद्धिरहित

मूर्खों में तथा जातिकुलादि हीनों में भी यथा योग्य प्रियवचन, आदर, सत्कार, स्थान दान आदि देने से कभी नहीं चूकते हैं, प्रियवचन ही कहते हैं।

उत्तमपुरुष उद्धतता के वस्त्र आभरण नहीं पहनते हैं; उद्धतपने का, पर के अपमान का कारण लेन–देन विवाहादि व्यवहार कार्य नहीं करते हैं; उद्धत होकर अभिमान से चलना, बैठना, झांकना, बोलना दूर से ही छोड़ देते हैं उनको लोक में पूज्य मार्दवगुण होता है। धन पाना, रूप पाना, ज्ञान पाना, विद्या–कला–चतुराई पाना, ऐश्वर्य पाना, बल पाना, जाति–कुलादि उत्तम गुण, जगत मान्यता इत्यादि पाना उनका ही सफल है, जो उद्धततारहित, अभिमानरहित, नम्रता सहित, विनय सहित प्रवर्तते हैं। जो अपने मन में अपने को सबसे छोटा मानते हुए कर्म के परवश जानते हैं, वे कैसे गर्व कर सकते हैं? नहीं करते हैं। हे भव्यजनों! सम्यग्दर्शन का अंग इस मार्दव अंग को जानकर चित्त में ध्यान करो, स्तवन करो। इस प्रकार मार्दवधर्म का वर्णन किया ।२।

उत्तम आर्जव धर्म

अब उत्तम आर्जवधर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। धर्म का श्रेष्ठ लक्षण आर्जव है। आर्जव का अर्थ सरलता है। मन–वचन–काय की कुटिलता का अभाव वह आर्जव है। आर्जव धर्म पाप का खण्डन करनेवाला है तथा सुख उत्पन्न करनेवाला है। अत: कुटिलता छोड़कर कर्म का क्षय करनेवाला आर्जव धर्म धारण करो। कुटिलता अशुभ कर्म का बंध करनेवाली है, जगत में अतिनिंद्य है। आत्मा का हित चाहनेवालों को आर्जवधर्म का अवलंबन लेना उचित है। जैसा मन में विचार करते हैं, वैसा ही शब्दों द्वारा अन्य को कहना तथा वैसा ही बाह्य में शरीर द्वारा प्रवर्तन करना, उसे सुख का संचय करनेवाला आर्जवधर्म कहते हैं।

मायाचाररूप शल्य मन से निकालकर उज्ज्वल पवित्र आर्जवधर्म का विचार करो। मायाचारी का व्रत, तप, संयम सभी निरर्थक है। आर्जवधर्म निर्वाण के मार्ग का सहाई है। जहाँ कुटिलवचन नहीं बोले वहाँ आर्जवधर्म होता है। यह आर्जवधर्म सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का अखण्ड स्वरूप है तथा अतींद्रिय सुख का पिटारा है। आर्जवधर्म के प्रभाव से अतीन्द्रिय अविनाशी सुख प्राप्त होता हे। संसाररूप समुद्र से तिरने के लिये जहाजरूप आर्जवधर्म ही है।

जिस समय मायाचार जान लिया जाता है उसी समय प्रीति भंग हो जाती है, जैसे कांजी डालने से दूध फट जाता है। मायाचारी अपना कपट बहुत छिपाता है, किन्तु वह प्रकट हुए बिना नहीं रहता है। दूसरे जीवों की चुगली करना व दोष बतलाना, वे स्वयं ही प्रकट हो जाते हैं। मायाचार करना तो अपनी प्रतीति का बिगाड़ना है। मायाचारी के समस्त हितैषी बिना किये ही बैरी हो जाते हैं।

जो व्रती हो, त्यागी हो, तपस्वी हो किन्तु जिसकी कपट एक बार भी प्रकट हो जाय तो सभी उसे अधर्मी मानकर कोई भी उसकी प्रतीति नहीं करता है। कपटी की तो माता भी प्रतीति नहीं करती है। कपटी तो मित्र द्रोही, स्वामी द्रोही, धर्म द्रोही, कृतघ्नी है तथा यह जिनेन्द्र का धर्म तो

छल, कपट रहित है। **जिस प्रकार टेढ़े म्यान में सीधी तलवार प्रवेश नहीं करती है, उसी प्रकार कपट से वक्र परिणामी के हृदय में जिनेन्द्र का आर्जवरूप सरल धर्म प्रवेश नहीं करता है।**

कपटी के दोनों लोक नष्ट हो जाते हैं। यदि यश चाहते हो, धर्म चाहते हो, प्रतीति चाहते हो तो मायाचार का त्याग करके आर्जव धर्म धारण करो। कपट रहित की बैरी भी प्रशंसा करते है। कपट रहित सरलचित वाले ने यदि कोई अपराध भी किया हो तो भी वह दण्ड देने योग्य नहीं है। आर्जव धर्म का धारक तो परमात्मा के अनुभव करने का संकल्प करता है, कषाय जीतने का, संतोष धारने का संकल्प करता है, जगत के छलों का दूर से ही परिहार करता है, आत्मा को असहाय चैतन्यमात्र जानता है।

जो धन, सम्पदा, कुटुम्ब आदि को अपनाता है वही कपट छल ठगाई करता है। जो आत्मा को संसार परिभ्रमण से छुड़ाकर पर द्रव्यों से अपने को भिन्न असहाय जानता है वह धन जीवन के लिये कपट नहीं करता है। अत: यदि अपने आत्मा को संसार परिभ्रमण से छुड़ाना चाहते हो तो मायाचार का परिहार करके आर्जव धर्म धारण करो। इस प्रकार आर्जव धर्म का वर्णन किया ।३।

उत्तम सत्य धर्म [१]

अब उत्तम सत्य धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। जो सत्य वचन है वह ही धर्म है। यह सत्य वचन दया, धर्म का मूल कारण है, अनेक दोषों का निराकरण करनेवाला है, इस भव में तथा परभव में सुख का करनेवाला है, सभी के विश्वास करने का कारण है। समस्त धर्मों के मध्य में सत्य वचन प्रधान है। सत्य है वह संसार समुद्र से पार उतारने को जहाज है। समस्त विधानों में सत्य बड़ा विधान है। समस्त सुख का कारण सत्य ही है। सत्य से ही मनुष्य जन्म को शोभा है। सत्य से ही समस्त पुण्य कर्म उज्ज्वल होते हैं। जो पुण्य के ऊँचे कार्य करते हैं उनकी उज्ज्वलता सत्य के बिना नहीं होती है। सत्य से ही सभी गुणों का समूह महिमा को प्राप्त होता है।

सत्य के प्रभाव से देव भी सेवा करते हैं। सत्य सहित ही अणुव्रत–महाव्रत होते हैं। सत्य के बिना समस्त व्रत, संयम नष्ट हो जाते हैं। सत्य से सभी आपत्तियों का नाश होता है। अत: जो भी वचन बोलो वह अपने और पर के हितरूप कहो, प्रामाणिक कहो, किसी को दु:ख उत्पन्न करनेवाला वचन नहीं कहो। दूसरे जीवों को बाधा पहुँचानेवाला सत्य भी नहीं कहो। गर्व रहित होकर कहो। परमात्मा का अस्तित्व बतानेवाला वचन कहो। नास्तिकों के वचन, पाप–पुण्य का अभाव, स्वर्ग– नरक का अभाव बतानेवाले वचन नहीं कहो।

यहाँ परमागम का ऐसा उपदेश जानना : यह जीव अनन्तानन्त काल तो निगोद में ही रहा है। वहाँ पर वचनरूप वर्गणा ही ग्रहण नहीं की। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय इनमें भी अनन्तकाल रहा, वहाँ तो जिह्वा इद्रिय ही नहीं पाई, बोलने की शक्ति ही नहीं पाई। जब विकल चतुष्क में उत्पन्न हुआ, पंचेन्द्रिय तिर्यंच में उत्पन्न हुआ वहाँ जिह्वा इन्द्रिय पाई तो भी अक्षर स्वरूप शब्दों का उच्चारण करने की सामर्थ्य नहीं मिली।

---

१ यहाँ पर पं. जी ने सत्य के वर्णन में सत्यवचन का वर्णन किया है । – संपादक

एक मनुष्यपने में ही वचन बोलने की शक्ति प्रकट होती है। ऐसी दुर्लभ वचन बोलने की सामर्थ्य को पाकर उसे असत्य वचन बोलकर बिगाड़ देना, यह बड़ा अनर्थ है। मनुष्य जन्म की महिमा तो एक वचन शक्ति से ही है। नेत्र, कर्ण, जिह्वा, नासिका तो ढोर तिर्यंच के भी होते हैं। खाना, पीना, काम, भोगादि पुण्यपाप के अनुकूल जानवरों को भी प्राप्त हो जाते हैं। आभरण, वस्त्रादि कूकर, वानर, गधा, घोड़ा, ऊँट, बैल इत्यादि को भी मिल जाते हैं; परन्तु वचन कहने की शक्ति, सुनने की शक्ति, उत्तर देने की शक्ति, पढ़ने–पढ़ाने का कारण वचन शक्ति तो मनुष्य जन्म में ही प्राप्त होती है। जिसने मनुष्य जन्म पाकर वचन बिगाड़ लिया, उसने समस्त जन्म बिगाड़ दिया। मनुष्य जन्म में भी लेना–देना, कहना–सुनना, धीरज–प्रतीति, धर्म–कर्म, प्रीति–बैर इत्यादि जितने भी प्रवृत्तिरूप व निवृत्तिरूप कार्य हैं वे सभी वचन के अधीन हैं। जिसने वचन को ही दूषित कर दिया उसने समस्त मनुष्य जन्म का व्यवहार बिगाड़ कर दूषित कर दिया। अत: प्राण जाने पर भी अपने वचन को दूषित नहीं करो।

परमागम में कहे हुए चार प्रकार के असत्य वचन का त्याग करो।

करणानुयोग का कथन (१) : विद्यमान अर्थ का निषेध करना वह प्रथम असत्य वचन है। जैसे – कर्मभूमि के मनुष्य–तिर्यँच की अकाल मृत्यु नहीं होती है – ऐसा वचन असत्य है। देव, नारकी तथा भोगभूमि के मनुष्य व तिर्यँच का तो आयुकर्म की स्थिति पूर्ण हो जाने पर ही मरण होता है, बीच में आयु छेदी नहीं जा सकती है, जितनी स्थिति बांधी थी उतनी भोग करके ही मरण करता है।

बाह्य निमित्त की मुख्यता से कथन : कर्मभूमि के मनुष्य–तिर्यंचों की आयु का नाश विष खाने से, पीटने से, मारने से, छेदने से, बन्धनादि की वेदना से, रोग की तीव्र वेदना से, शरीर से रक्त निकल जाने से, तथा दुष्ट मनुष्य–दुष्ट तिर्यंच भयंकर देवों द्वारा उत्पन्न किये गये भय से, वज्रपातादि के स्वचक्र–परचक्रादि के भय से, शस्त्र के घात से, पर्वत आदि से गिरने से, अग्नि–पवन–जल–कलह–विसंवादादि से उत्पन्न क्लेश से, श्वास–उच्छ्वास के रुक जाने से, आहार–पानादि का निरोध होने से आयु का नाश हो जाता है। आयु की लम्बी (दीर्घ) दिखने वाली स्थिति भी विष भक्षण, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, संक्लेश, श्वासोच्छ्वास निरोध, अन्न पान का अभाव आदि से तत्काल ही नाश को प्राप्त हो जाती है।

प्रश्न : कितने ही लोग कहते हैं कि आयु पूर्ण हुए बिना मरण नहीं होता है?

उत्तर : यदि बाह्य निमित्त से आयु नहीं छिदती है तो विष भक्षण से कौन पीछे हटता? विष खानेवाले को उखाली क्यों देते? शस्त्रघात करनेवाले से डरकर क्यों भागते? सर्प, सिंह, व्याघ्र, हाथी, दुष्ट मनुष्य, दुष्ट तिर्यंचों को दूर से ही क्यों छोडते? नदी, समुद्र, कुआ, बावड़ी में, अग्नि की ज्वाला में गिरने से कौन भय खाता? रोग का इलाज क्यों करते? अधिक कहने से क्या? **यदि आयुघात होने का बहिरंग कारण मिल जाता है तो जिसकी आयु का घात होना ही है, उसकी आयु का घात हो ही जाता है, यह निश्चय है।**

आयु कर्म के समान ही अन्य कर्म भी बहिरंग कारण मिलने पर उदय में आ ही जाते हैं। सभी जीवों के पापकर्म–पुण्यकर्म सत्ता में विद्यमान है, बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि परिपूर्ण सामग्री के मिलने पर अपना रस देते ही हैं; यदि बाह्य निमित्त नहीं मिलता है तो उदय में नहीं आते हैं, बिना रस दिये ही निर्जरित हो जाते हैं।

करणानुयोग का कथन (२) : असद्भूत को (अविद्यमान अर्थ को) प्रकट करना वह दूसरा असत्य वचन है। जैंसे – देवों की अकाल मृत्यु कहना, देवों को भोजन ग्रासादि रूप से करने वाला कहना, देवों को मांस भक्षी कहना, मनुष्यनी को देव के साथ कामसेवन व देवांगना को मनुष्य के साथ कामसेवन इत्यादि कहना, वह दूसरा असत्य वचन है।

द्रव्यानुयोग का कथन (३) : वस्तु स्वरूप को अन्य विपरीत स्वरूप कहना वह तीसरा असत्य वचन है।

चरणानुयोग का कथन (४) : गर्हित वचन कहना वह चौथा असत्य वचन है। गर्हित वचन के तीन भेद हैं – गर्हित १, सावद्य २, अप्रिय ३।

गर्हित वचन त्याग १ : पैशून्य, हास्य, कर्कश, असमंजस, प्रलपित, इत्यादि अन्य और भी आगम विरुद्ध वचन कहना वह **गर्हित** वचन है। दूसरे के विद्यमान व अविद्यमान दोषों को पीठ पीछे कहना, जिस वचन से दूसरे के धन का विनाश, जीविका का विनाश, प्राणों का विनाश हो जाय, जगत में निंद्य हो जाय, अपवाद हो जाय, ऐसे वचन कहना वह **पैशून्य** नाम का गर्हित असत्य वचन हैं। हास्य, लीला, भण्ड वचन, सुननेवालों को अशुभराग उत्पन्न करनेवाले वचन कहना वह **हास्य** नाम का गर्हित वचन है। अन्य को कहना कि तू ढांढ़ा है, गधा है, मूर्ख है, अज्ञानी है, मूढ़ है इत्यादि वचन **कर्कश** नाम का गर्हित वचन है। देशकाल के अयोग्य वचन कहना जिससे स्वयं को तथा दूसरे को महासंताप उत्पन्न हो जाये वह **असमंजस** नाम का गर्हित वचन है। प्रयोजन रहित ढीठपने से बकवाद करना वह **प्रलपित** नाम का गर्हित वचन है।१।

सावद्य वचन त्याग २ : जिस वचन के द्वारा प्राणियों का घात हो जाय, देश में उपद्रव हो जाय, देश लुट जाय, देश के स्वामियों में महाबैर हो जाय, गाँव में अग्नि लग जाय, घर जल जाय, वन में अग्नि लग जाय, कलह–विसंवाद–युद्ध होने लगे, दुःख से कोई मर जाय, बैर बाँधले, छह काय के जीवों का घात प्रारंभ हो जाय, महाहिंसा में प्रवृत्ति होने लगे वह सावध वचन है; पर को चोर कहना, व्यभिचार कहना वह सब सावद्य वचन दुर्गति के कारण हैं, अतः त्यागने योग्य हैं।२।

अप्रिय वचन त्याग ३ : त्यागने योग्य अप्रिय वचन प्राण जाते हुए भी नहीं कहना चाहिये। अप्रिय भाषा के दश भेद इस प्रकार जानना – कर्कशा, कटुका, परुषा, निष्ठुरा, परकोपनी, मध्यकृषा, अभिमाननी, अनयंकारी, छेदंकरी, भूतवधकरी। इन महापापरूप महानिंद्य दश भाषा बोलने का सत्यवादी त्याग करता है।

तू मूर्ख है, बैल है, ढोर है, रे मुर्ख, तू क्या समझेगा इत्यादि **कर्कशा** भाषा है। तू कुजाति है। नीच जाति का है, अधर्मी है, महापापी है, तू स्पर्श करने योग्य नहीं है, तेरा मुख देखने से बड़ा अनर्थ होता है, इत्यादि उद्वेग करने वाली **कटुका** भाषा है। तू आचार भ्रष्ट है, भ्रष्टाचारी है इत्यादि मर्म छेदनेवाली **परुषा** भाषा है। मैं तुझे मार डालूँगा, तेरी नाक काटूँगा, तुझे गर्म सलाख लगाऊँगा, तेरा मस्तक काट डालूँगा, तुझे खा जाऊँगा इत्यादि **निष्ठुरा** भाषा है। रे निर्लज्ज, वर्ण शंकर, तेरे जाति–कुल आचार का ठिकाना नहीं है, तेरा क्या तप है, तू कुशीली है, तू हँसने योग्य है, तू महानिंद्य है, तू अभक्ष्य भक्षण करनेवाला है। तेरा नाम लेने से कुल लज्जित होता है इत्यादि **परकोपनी** भाषा है।

जिस वचन को सुनने से ही हड्डियों की ताकत नष्ट हो जाती है, सामर्थ्य नष्ट हो जाती है वह **मध्यकृषा** भाषा है। लोगों में अपने गुण प्रकट करना, दूसरों के दोष कहना, अपना कुल–जाति–रूप–बल–विज्ञान आदि का मद सहित वचन बोलना वह **अभिमाननी** भाषा है। शील का खण्डन करनेवाली तथा विद्वेष करनेवाली **अनयंकरी** भाषा है। वीर्य, शील, गुणादि को निर्मूल करनेवाली, असत्य दोष प्रकट करनेवाली, जगत में झूठा कलंक प्रकट करनेवाली **छेदंकरी** भाषा है। जिस वचन से अशुभ वेदना प्रकट हो जाय, ऐसी प्राणों का घात करनेवाली **भूतवधकरी** भाषा है। ये दश प्रकार के निंद्य अप्रिय वचन त्यागने योग्य हैं।

स्त्रियों के हावभाव, विलास, विभ्रम, क्रीड़ा, व्यभिचारादि की कथा, काम को जगानेवाली, ब्रह्मचर्य का नाश करनेवाली **स्त्रियों की कथा;** भोजनपान में राग करानेवाली **भोजन की कथा;** रौद्रभाव करानेवाली **राजकथा; चोरों की कथा;** मिथ्यादृष्टि **कुलिंगियों की कथा; धन उपार्जन करने की कथा;** बैरी दुष्टों का तिरस्कार करने की कथा, तथा **हिंसा को पुष्ट** करनेवाली वेद, स्मृति, पुराण आदि कुशास्त्रों की कथा कहने योग्य नहीं है, सुनने योग्य नहीं है। पाप के आस्रव का कारण होने से विकथारूप अप्रिय भाषा त्यागने योग्य है।३।

हे ज्ञानी जनों! चार प्रकार की असत्य वचनरूप निंद्य भाषा हँसी में, क्रोध में, मद से, छल से, लोभ से, भय से, द्वेष से कभी नहीं कहो। अपने तथा पर के हितरूप ही वचन खोलो। इस जीव को जैसा सुख हितरूप अर्थसहित मिष्ठवचन करता है, निराकुल करता है, आताप हरता है, वैसा सुखकारी आताप हरनेवाला चन्द्रमा, चन्द्रकांतमणि, जल, चन्दन, मोती आदि कोई पदार्थ नहीं है।

जहाँ अपने बोलने से धर्म की रक्षा होती हो, प्राणियों का उपकार होता हो, वहाँ बिना पूछे ही बोलना, तथा जहाँ आपका व अन्य का हित नहीं हो वहाँ मौन सहित ही रहना उचित है। सत्य बोलने से समस्त विद्या सिद्ध होती है, जहाँ विद्या देने वाला सत्यवादी हो तथा सीखने वाला भी सत्यवादी हो उसे समस्त विद्या सिद्ध होती है,कर्म की निर्जरा होती है। सत्य के प्रभाव से अग्नि, जल, विष, सिंह, सर्प, दुष्ट देव, मनुष्यादि बाधा नहीं कर सकते हैं।

सत्य के प्रभाव से देवता वश में हो जाते हैं, प्रीति–प्रतीति दृढ़ होती है। सत्यवादी माता के समान विश्वास योग्य है, गुरु के समान पूज्य होता है, मित्र के समान प्रिय होता है, उज्ज्वल यश

को प्राप्त होता है। तप–संयम आदि सभी सत्य वचन से शोभित होते हैं। जैसे विष मिल जाने से मिष्ठ भोजन का नाश हो जाता है, अन्याय से धर्म व यश का नाश हो जाता है, उसी प्रकार असत्य वचन से अहिंसा आदि सभी गुणों का नाश हो जाता है।

असत्य वचन से अप्रतीति, अकीर्ति, अपवाद, स्वयं को व अन्य को संक्लेश, अरति, कलह, बैर, भय, शोक, बध, बंधन, मरण, जिह्वाछेद, सर्वस्व, हरण, बन्दीगृह में प्रवेश, दुर्ध्यान, अपमृत्यु, व्रत–तप–शील–संयम का नाश, नरकादि दुर्गति में गमन, भगवान की आज्ञा का भंग, परमागम से पराङ्मुखता, घोर पाप का आस्रव इत्यादि हजारों दोष प्रकट होते हैं। इसलिये हे ज्ञानीजन हो! लोक में प्रिय, हित, मधुर वचन बहुत भरा है, सुन्दर शब्दों की कमी नहीं है, फिर निंद्य असत्य वचन क्यों बोलते हो?

रे, तू इत्यादि नीच पुरुषों के बोलने के वचन प्राण जाने पर भी नहीं कहो। अधमपना और उत्तमपना तो वचनों से ही जाना जाता है। नीचों के बोलने के निंद्य वचन को छोड़कर प्रिय, हित, मधुर, पथ्य, धर्मसहित वचन कहो। जो दूसरों को दुःख देने वाले वचन कहते हैं तथा झूठा कलंक लगाते हैं उनकी बुद्धि यहाँ पर ही पाप से भ्रष्ट हो जाती है, जिह्वा गल जाती है, अंधे हो जाते हैं, पैर टूट जाते हैं, दुर्ध्यान से मरकर नरक–तियँच आदि कुगति के पात्र हो जाते हैं। सत्य के प्रभाव से यहाँ उज्ज्वल यश, वचन की सिद्धि, द्वादशांगादि श्रुत का ज्ञान पाकर, फिर इन्द्रादि महर्द्धिकदेव होकर, तीर्थंकर आदि उत्तम पद पाकर निर्वाण को चले जाते हैं। इसलिये उत्तम सत्यधर्म ही को धारण करो। इस प्रकार सत्य धर्म का वर्णन किया।

उत्तम शौच धर्म

अब उत्तम शौचधर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। शौच का अर्थ पवित्रता उज्ज्वलता है। बहिरात्मा तो देह की उज्ज्वलता, स्नानादि करने को शौच कहते हैं, किन्तु देह तो सप्त धातुमय, मलमूत्र से भरी जल से धोने से शुचिपने को प्राप्त नहीं होती है। जैसे मल से बना, मल से भरा घड़ा जल से धोने से शुद्ध नहीं होता है, उसी प्रकार शरीर भी शुद्ध उज्ज्वल जल से धोने से शुद्ध नहीं होता है। शरीर को शुद्ध मानना वृथा है।

शौचधर्म तो आत्मा को उज्ज्वल करने से होता है। आत्मा लोभ से, हिंसा से अत्यन्त मलिन हो रहा है, अतः आत्मा के लोभमल का अभाव होने से शुचिता होगी। जो अपने आत्मा को देह से भिन्न ज्ञानोपयोग–दर्शनोपयोगमय, अखण्ड, अविनाशी, जन्म–जरा–मरण रहित, तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थों का प्रकाशक सदाकाल अनुभव करता है, ध्याता है उसे शौचधर्म होता हे। **मन को मायाचार, लोभादि से रहित उज्ज्वल करने से शौचधर्म होता है। जिसका मन काम, लोभादि से मलिन हो रहा हैं उसे शौचधर्म नहीं होता है।** धन की गृद्धता व अतिलम्पटता का त्याग करने से शौचधर्म होता है।

परिग्रह की ममता छोड़कर, इंद्रियों के विषयों का त्यागकर, तपश्चरण के मार्ग में प्रवर्तन करना वह शौचधर्म है। ब्रह्मचर्य धारण करना वह शौचधर्म है। आठ मदों से रहित विनयवानपना भी शौचधर्म

है। अभिमानी मद सहित होने से महामलिन है, उसके शौचधर्म कैसे होगा? **वीतराग सर्वज्ञ के परमागम का अनुभव करके अंतरंग मिथ्यात्व कषायादि मल का धोना वह शौचधर्म है।** उत्तम गुणों की अनुमोदना करने से शौचधर्म होता है। परिणामों में उत्तम पुरुषों के गुणों का चिंतवन करने से आत्मा उज्ज्वल होता है। कषाय मल का अभाव करने से उत्तम शौचधर्म होता है। आत्मा को पाप से लिप्त नहीं होने देना, वह शौचधर्म है।

जो समभाव–संतोषभावरूप जल से तीव्र लोभरूप मल के पुंज को धोता है, भोजन में अतिलम्पटता रहित है। उसके निर्मल शौचधर्म होता है। भोजन का लंपटी अति अधम है, अखाद्य वस्तु भी खा लेता है, हीनाचारी होता है, लज्जा नष्ट हो जाती है। संसार में जिह्वा इंद्रिय व उपस्थ इंद्रिय के वशीभूत हुए जीव अपना स्वरूप भूलकर, नरक–तियँचगति के कारण महानिंद्य परिणामों को प्राप्त हो जाते हैं।

संसार में परधन की इच्छा, परस्त्री की वांछा, भोजन की अतिलंपटता ही परिणामों को मलिन करनेवाली है। इनकी वांछा से रहित होकर अपने आत्मा की संसार में पतन से रक्षा करो। **आत्मा की मलिनता तो जीव हिंसा से तथा परधन, परस्त्री की वांछा से है।** जो परस्त्री, परधन के इच्छुक तथा जीवघात करनेवाले हैं वे करोड़ों तीर्थों में स्नान करो, समस्त तीर्थो की वंदना करो, करोड़ों का दान करो, करोड़ों वर्षों तक तप करो, समस्त शास्त्रों का पठन–पाठन करो तो भी उनके शुचिता कभी नहीं होती है।

अन्याय, अनीति तथा अभक्ष्य-भक्षण का फल : अभक्ष्य–भक्षण करनेवालों के व अन्याय के विषय तथा धन भोगनेवालों के परिणाम इतने मलिन होते हैं कि करोड़ों बार धर्म का उपदेश व समस्त सिद्धान्त शास्त्रों की शिक्षा बहुत वर्षों से सुनते रहने पर भी वह कभी हृदय में प्रवेश नहीं करती है। प्रत्यक्ष ही देखते हैं – **जिनको पचास वर्ष शास्त्र सुनते हुए हो गये हैं किन्तु जिन्हें धर्म के स्वरूप का ज्ञान ही नहीं हुआ है, वह सब अन्याय का धन तथा अभक्ष्य-भक्षण का फल है।**

इसलिये यदि अपनी आत्मा की पवित्रता चाहते हो तो अन्याय का धन मत ग्रहण करो, अभक्ष्य भक्षण नहीं करो, परस्त्री की वांछा नहीं करो। शौचधर्म तो परमात्मा के ध्यान से होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह के त्याग ते शौचधर्म होता है।

जो पाँच पापों में प्रवर्तनेवाले हैं वे सदाकाल मलिन हैं। जो पर के उपकार को लोप करते हैं वे कृतघ्नी सदा ही मलिन हैं। जो गुरुद्रोही, धर्मद्रोही, स्वामीद्रोही, मित्रद्रोही उपकार को लोपने वाले हैं; उनके पाप का संतानक्रम असंख्यात भवों तक करोड़ों तीर्थों में स्नान करने से, दान करने से दूर नहीं होता है। **विश्वासघाती सदा ही मलिन है।**

अत: भगवान के परमागम की आज्ञा के अनुसार शुद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा आत्मा को पवित्र बनाओ। क्रोधादि कषायों का निग्रह करके उत्तम क्षमादि गुण धारण कर आत्मा को उज्ज्वल करो। समस्त व्यवहार कपट रहित उज्ज्वल करो। परका वैभव, ऐश्वर्य, उज्ज्वल यश, उत्तम विद्या

प्रभाव देखकर अदेखपना भावरूप मलिनता छोड़कर शौचधर्म अंगीकार करो। दूसरों का पुण्य का उदय देखकर दुःखी नहीं होओ। इस मनुष्य पर्याय को तथा इंद्रिय, ज्ञान, बल, आयु, संपदादि को अनित्य, क्षणभंगुर जानकर, एकाग्रचित से अपने स्वरूप में दृष्टि रखकर, अशुभ भावों का अभाव करके आत्मा को शुचि करो। शौच ही मोक्ष का मार्ग है, शौच ही मोक्ष का दाता है। इस प्रकार शौच धर्म का वर्णन किया। ५।

उत्तम संयम धर्म

अब उत्तम संयमधर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। संयम का लक्षण इस प्रकार जानना – अहिंसा अर्थात् हिंसा को त्यागकर दयारूप रहना, हित–मित–प्रिय–सत्य वचन बोलना, पर के धन में वांछा का अभाव करना, कुशील छोड़ना, परिग्रह का त्याग करना, ये पाँच व्रत हैं। पाँच पापों का एकदेश त्याग करना वह **अणुव्रत** है, सम्पूर्ण त्याग करना वह **महाव्रत** है। इन पाँच व्रतों को दृढ़ धारण करना, पाँच समिति पालना। उनमें गमन की शुद्धता **ईर्या समिति** है, वचन की शुद्धता **भाषा समिति** है, निर्दोष शुद्ध भोजन करना **ऐषणा समिति** है, शरीर तथा उपकरणों को नेत्रों से देख–शोध कर उठाना–धरना वह **आदान निक्षेपण समिति** है, मलमूत्र–कफादि मलों को ऐसे स्थान में फेंकना–त्यागना जहाँ अन्य जीवों को ग्लानि, दुःख, बाधादि उत्पन्न नहीं हो वह **प्रतिष्ठापन समिति** है।

इन पाँच समितियों का पालना, क्रोध–मान–माया–लोभ–इन चार कषायों का निग्रह करना, मन–वचन–काय की अशुभ प्रवृत्ति – ये तीन दण्ड हैं, इन दण्डों का त्याग करना, तथा विषयों में दौड़नेवाली पाँच इंद्रियों को वश में करना–जीतना वह संयम है।

पाँच महाव्रतों का धारण, पाँच समितियों का पालन, चार कषायों का निग्रह, तीन दण्डों का त्याग, पाँच इंद्रियों की विजय को जिनेन्द्र के परमागम में संयम कहा है। वह संयम प्राप्त करना बहुत दुर्लभ है। पूर्व के बाँधे अशुभ कर्मों का अत्यंत मंद उदय होने से मनुष्यजन्म, उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तम जाति, इंद्रियों की परिपूर्णता, निरोगता, कषायों की मंदता, उत्तम संगति, जिनेन्द्र के आगम का सेवन, सच्चे गुरुओं का संयोग, सम्यग्दर्शन आदि अनेक दुर्लभ सामग्री का संयोग होने पर संसार, देह, भोगों से अति विरक्तता के धारक मनुष्यों को अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से देश संयम होता है; तथा अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान दोनों कषायों के क्षयोपशम से सकल संयम होता है। इसलिये संयम प्राप्त करना महादुर्लभ है।

नरकगति में, तिर्यंचगति में व देवगति में तो संयम होता ही नहीं है। किसी तिर्यंच के अपनी पर्याय की योग्यता के अनुसार कभी देशव्रत होते हैं, मनुष्य पर्याय में भी नीच कुलादि में, अधम देशों में, इंद्रियों से पीड़ित, अज्ञानी, रोगी, दरिद्री, अन्यायमार्गी, विषयानुरागी, तीव्र कषायी, निंद्यकर्मी, मिथ्यादृष्टियों को संयम कभी नहीं होता हे। इसलिये संयम प्राप्त करना अति दुर्लभ है। ऐसे दुर्लभ संयम को भी पाकर कोई मूढ़बूद्धि यदि विषयों का लोलुपी होकर छोड़ देता है, किसी प्रकार से नष्ट कर देता है तो वह अनन्तकाल तक जन्म–मरण करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है।

जो संयम को प्राप्त करने के बाद उसे छोड़ देता है, बिगाड़ देता है उसको अनन्तकाल तक निगोद में परिभ्रमण, त्रस–स्थावरों में भ्रमण करना पड़ता है, सुगति नहीं मिलती है। **संयम प्राप्त करके उसे बिगाड़ने के समान बड़ा अनर्थ दूसरा नहीं है।** विषयों का लोभी होकर जो संयम को बिगाड़ता है वह एक कौड़ी में चिन्तामणि रत्न बेच देनेवाले व ईंधन के लिये कल्पवृक्ष को काटनेवाले के समान है।

विषयों का सुख तो सुख ही नहीं है, वह तो सुखाभास है, क्षण भंगुर है, नरकों के घोर दु:खों की प्राप्ति का कारण है। किंपाक फल के समान जिह्वा का स्पर्शमात्र ही मीठा लगता है पश्चात् घोर दु:ख, महादाह, संताप देकर मरण को प्राप्त कराता है; उसी प्रकार भोग भी किंचित्काल मात्र को अज्ञानी जीवों को भ्रम से सुख जैसा लगता है, पश्चात् तो अनन्तकाल तक अनन्त भवों में घोर दु:ख ही भोगने पड़ते हैं। इसलिये संयम की परम रक्षा करो।

पाँच इंद्रियों के विषयों के भोग छोड़ने से संयम होता है, कषायों का नाश करने से संयम होता है, दुर्द्धर तप को धारण करने से संयम होता है, रसों का त्याग करने से संयम होता है, मन के विकल्प जाल का प्रसार रोकने से संयम होता है, मन में परिग्रह की लालसा का त्याग करने से संयम होता है, महान कायक्लेशों को सहने से संयम है। उपवासादि अनशन तप करने से संयम होता है। त्रस–स्थावर जीवों की रक्षा करना ही संयम है।

मन के विकल्पों को रोकने से तथा प्रमाद से होनेवाली वचनों की प्रवृत्ति को रोकने से संयम होता है, शरीर के अंग–उपांगों के प्रमादी प्रवर्तन को रोकने से संयम होता है, बहुत गमन को रोकने से संयम होता है, दयारूप परिणामों द्वारा संयम होता है, परमार्थ का विचार करने से तथा परमात्मा का ध्यान करने से संयम होता है।

संयम से ही सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है। संयम ही मोक्ष का मार्ग है। संयम बिना मनुष्यभव शून्य है, गुण रहित है। संयम बिना ही यह जीव दुर्गतियों में गया है। संयम बिना देह का धारण करना, बुद्धि का पा लेना, ज्ञान की आराधना करना, सभी व्यर्थ हैं। **संयम बिना दीक्षा धारणा, व्रत धारणा, मूंड मुडावना, नग्न रहना, भेष धारणा - ये सभी वृथा हैं।**

संयम दो प्रकार का है : इंद्रिय संयम तथा प्राणी संयम। जिसकी इंद्रियाँ विषयों से नहीं रुकीं, छह: काय के जीवों की विराधना नहीं टली उसका बाह्य परीषह सहना, तपश्चरण करना, दीक्षा लेना वृथा है। संसार में दु:खी जीवों का संयम बिना कोई अन्य शरण नहीं है। **ज्ञानीजन तो ऐसी भावना भाते हैं - संयम बिना हमारे मनुष्य भव की एक घड़ी भी नहीं व्यतीत हो,** संयम बिना आयु निष्फल है। संयम ही इस भव में तथा पर भव में शरण हैं, दुर्गतिरूप सरोवर को सोखने के लिये सूर्य के समान है। संयम से ही संसाररूप विषम बैरी का नाश होता है। संसार परिभ्रमण का नाश संयम के बिना नहीं होता, ऐसा नियम है। जो अंतरंग में कषायों से आत्मा को मलिन नहीं होने देता तथा बाह्य में यत्नाचारी होकर प्रमाद रहित प्रवर्तन करता है उसके संयम होता है। इस प्रकार संयम धर्म का वर्णन किया।६।

उत्तम तप धर्म

अब उत्तम तपधर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। इच्छा का निरोध करना वह तप है। तप चार आराधनाओं में प्रधान है। जैसे स्वर्ण को तपाने से – सोलह बार पूर्ण उष्णता (ताप) देने पर वह समस्त मैल छोड़कर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी बारह प्रकार के तपों के प्रभाव से कर्ममल रहित होकर शुद्ध हो जाता है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि तो शरीर को पंचाग्नि द्वारा तपाने में, तथा अनेक प्रकार के कायक्लेश सहने को तप कहता है किन्तु वह तप नहीं है। शरीर को जला देने से, सुखाकर कृष कर देने से क्या होता है? **मिथ्यादृष्टि ज्ञान पूर्वक आत्मा को कर्मों के बन्धन से छुड़ाना नहीं जानता है।** आत्मा कर्म–कलंक रहित तो भेद–विज्ञान पूर्वक अपने आत्मा के स्वभाव को तथा राग–द्वेष–मोहादि भावकर्मरूप मैल को भिन्न–भिन्न देखकर **जिस प्रकार से राग-द्वेष-मोहरूप मैल भिन्न हो जाय तथा शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मा भिन्न हो जाय, वह तप है।**

इसीलिये कहा है : मनुष्य भव पाकर यदि स्व–पर तत्त्व का ज्ञान किया है तो मन सहित पाँचों इंद्रियों को रोककर, विषयों से विरक्त होकर, सभी परिग्रहों को छोड़कर, बंध करनेवाली राग–द्वेषमयी प्रवृत्ति को छोड़कर, पाप के आलम्बन से छूटने के लिये, ममता नष्ट करने के लिये वन में जाकर तप करना चाहिये। ऐसा तप धन्य पुरुषों के द्वारा ही होता है।

संसारी जीव के ममतारूप बड़ी फांसी है। वह ममतारूप जाल में फंसा हुआ, घोर कर्म करता हुआ, महापाप का बंध करके, रोगादि की तीव्र वेदना से तथा स्त्री–पुत्रादि समस्त कुटुम्ब व परिग्रह के वियोगादि से उत्पन्न तीव्र आर्तध्यान से मरण करके दुर्गतियों के घोर दु:खों को प्राप्त करता है।

तपोवन को प्राप्त होना दुर्लभ है। तप तो कोई महा भाग्यवान पुरुष पापों से विरक्त होकर, समस्त स्त्री–कुटुम्ब–पुत्र–धनादि परिग्रह से ममत्व छोड़कर, परम धर्म के धारक वीतराग निर्ग्रन्थ गुरुओं के चरणों की शरण में पाता है। गुरुओं को प्राप्त करके जिसके अशुभकर्म का उदय अति मंद हो गया हो, सम्यक्त्वरूप सूर्य का उदय प्रकट हुआ हो, संसार–विषय–भोगों से विरक्तता उत्पन्न हुई हो वही तप–संयम ग्रहण करता है।

ऐसा दुर्द्धर तप धारण करके भी यदि कोई पापी विषयों की इच्छा से बिगाड़ता है,उसको अनन्तानन्त काल तक फिर तप प्राप्त नहीं होता है। अत: मनुष्य भव पाकर, तत्त्वों का स्वरूप जानकर, मन सहित पाँच इंद्रियों को रोककर, वैराग्यरूप होकर, समस्त परिग्रह छोड़कर, वन में एकाकी ध्यान में लीन होकर बैठना वह तप है।

परिग्रह में ममता नष्ट होकर वांछा रहित हो जाना, तथा प्रचण्ड काम का खण्डन करना वह बड़ा तप है। नग्न दिगम्बर रूप धारण करके शीत की, आतप की, पवन की, वर्षा की, डांस, मच्छर, मक्षिका, मधुमक्षिका, सर्प, बिच्छू इत्यादि से उत्पन्न हुई घोर वेदना को कोरे–नग्न शरीर पर सहना वह

तप है। निर्जन पर्वतों की निर्जन गुफाओं में, भयंकर पर्वतों की दरारों में, तथा सिंह, व्याघ्र, रीछ, सियाली, चीता, हाथी से भरे घोर वन में निवास करना वह तप है। दुष्ट, बैरी, म्लेच्छ, चोर, शिकारी, मनुष्य तथा दुष्ट–व्यंतर आदि द्वारा किये गये घोर उपसर्गों से कंपायमान नहीं होना, धीर–वीरपने से कायरता छोड़कर बैर–विरोध छोड़कर, समताभाव से परमात्मा के ध्यान में लीन होकर सहना वह तप है। समस्त जीवों को उलझाने वाले राग–द्वेष आदि को जीतना, नष्ट करना वह तप है।

याचना रहित, भोजन के अवसर में, श्रावक के घर में, नवधाभक्तिपूर्वक, हाथ में रखा अलोना, कडुआ, खट्टा, लूखा, चिकना, रस–नीरस, निर्दोष, प्रासुक आहार लोलुपता रहित, संक्लेश रहित, एकबार खाना वह तप है। पाँच समितियों का पालना, मन–वचन–काय को चलायमान नहीं करना, रागद्वेष रहित अपने आत्मा का अनुभव करना वह तप है। स्व–पर तत्त्व की कथनी का निर्णय करना, चारों अनुयोग का अभ्यास करते हुए धर्म सहित काल व्यतीत करना वह तप है। अभिमान छोड़कर विनयरूप प्रवर्तना, कपट छोड़कर सरल परिणाम रखना, क्रोध छोड़कर क्षमा ग्रहण करना, लोभ त्यागकर निर्वांछक होना वह तप है। जिससे कर्म के समूह का नाश करके आत्मा स्वाधीन हो जाय वह तप है।

श्रुत के अर्थ का प्रकाश करना, व्याख्यान करना, स्वयं निरंतर अभ्यास करना, दूसरों को अभ्यास कराना वह तप है। तपस्वियों का स्तवन–भक्ति देवों का इन्द्र भी करता है। तप से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। तप का अचिन्त्य प्रभाव है। तप करने के परिणाम होना अति दुर्लभ हैं। नारकी, तिर्यंच, देवों में तप करने की योग्यता ही नहीं है; एक मनुष्य गति में ही तप होता है। मनुष्यों में भी उत्तम कुल, जाति, बल, बुद्धि, इंद्रियों की पूर्णता, रागादि की मंदता जिसके होती है, तथा विषयों की लालसा जिसके नष्ट हो जाती है उसी के तप होता है।

तप बारह प्रकार का है - जिसकी जैसी शक्ति हो उसके अनुसार तप धारण करना चाहिये। बालक करे, वृद्ध करे, तरुण करे, धनवान करे, निर्धन करे, बलवान करे, निर्बल करे, सहाय सहित हो वह करे, सहायरहित हो वह करे, भगवान का कहा हुआ तप किसी के भी करने को अशक्य नहीं है। जिस प्रकार से वात–पित्त–कफादि का प्रकोप नहीं हो, रोग की वृद्धि नहीं हो, शरीर रत्नत्रय का सहकारी बना रहे, उस प्रकार अपना संहनन, बल, वीर्य देखकर तप करना चाहिये। **देश, काल, आहार की योग्यता देखकर तप करना चाहिये।** जैसे तप में उत्साह बढ़ता रहे, परिणामों में उज्ज्लता बढ़ती जाये वैसे तप करना चाहिये। इच्छा का निरोध करके विषयों में राग घटाना वह तप है। तप ही जीव का कल्याण है; तप ही काम को, निद्रा को, प्रमाद को नष्ट करनेवाला है। अत: मद छोड़कर बारह प्रकार के तप में जैसा तप करने की अपने में सामर्थ्य हो वैसा ही तप करना चाहिये। बारह प्रकार के तप का वर्णन आगे तप भावना में अलग से लिखेंने। इस प्रकार उत्तम तपधर्म का वर्णन किया।७।

उत्तम त्याग धर्म

अब उत्तम त्यागधर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। त्याग इस प्रकार जानना : जिन्होंने धन, सम्पदा आदि परिग्रह को कर्म के उदय जनित पराधीन, विनाशीक, अभिमान को उत्पन्न करनेवाला,

तृष्णा को बढ़ानेवाला, रागद्वेष की तीव्रता करनेवाला, आरंभ की तीव्रता करनेवाला, हिंसादि पाँचों पापों का मूल जानकर इसे अंगीकार ही नहीं किया वे उत्तम पुरुष धन्य हैं। जिन्होंने इसे अंगीकार करके फिर इसे हलाहल विष समान जानकर जीर्ण तृण की तरह त्याग दिया उनकी भी अचिन्त्य महिमा है।

कितने ही जीवों का तीव्र राग भाव मंद नहीं हुआ इसलिये समस्त परिग्रह त्यागने को समर्थ नहीं है, वे सराग धर्म में रुचि रखते हैं, पापों से भयभीत हैं। वे इस धन को उत्तम पात्रों के उपकार के लिये दान में लगाते हैं। जो धर्म के सेवन करनेवाले धनवान हैं वे अन्न वस्त्रादि द्वारा निर्धन जनों का उपकार करने में धन लगाते हैं; धर्म के आयतन जिनमंदिर आदि बनवाने में, जिन सिद्धान्त (शास्त्र) लिखवा देने में, उपकरण में, पूजनादि प्रभावना में धन लगाते हैं; दु:खी–दरिद्री–रोगियों के उपकार में तन–मन से करुणावान होकर धन लगाते हैं, वे अपना धन व जीवन सफल करते हैं।

दान है वह धर्म का अंग है। अपनी शक्ति प्रमाण, भक्ति पूर्वक, गुणों के धारी उज्ज्वल पात्रों को जो दान देता है, वह जीव की महान सुख सामग्री को परलोक ले जानेवाला है, तथा निर्विघ्न स्वर्ग को व भोगभूमि को प्राप्त करानेवाला है, ऐसा जानो।

दान की महिमा तो अज्ञानी वाल–गोपाल भी करते हैं। वे कहते हैं कि – जिसने पूर्व भवों में दान दिया है, उसी ने अनेक प्रकार की सुख सामग्री पाई है, तथा जो अभी देगा सो आगे पायेगा। अत: जो सुख सम्पदा का इच्छुक हो उसे दान देने में ही अनुराग करना चाहिये। जो दान देने में उद्यमी नहीं हैं, केवल मरण पर्यन्त के लिये धन का संचय करने में ही उद्यमी हैं, वे यहाँ पर ही तीव्र आर्त परिणाम से मरकर सर्प आदि दुष्ट तिर्यंच की गति पाकर नरक–निगोद को प्राप्त करते हैं। धन क्या साथ जायेगा?

धन पाना तो दान से ही सफल है। दान रहित का धन घोर दु:खों की परिपाटी का कारण है। यहाँ पर ही कृपण की घोर निंदा होती है, लोग कृपण का नाम भी नहीं लेना चाहते हैं। कृपणा–सूम का नाम लेने को भी लोग अमंगल मानते हैं। दानी में कोई औगुण या दोष हो तो वह दोष भी दान से ढक जाता है, दानी के दोष दूर भाग जाते हैं। जगत में निर्मल कीर्ति दान से ही फैलती है। दान देने से बैरी भी बैर छोड़ देते हैं, चरणों में झुक जाते हैं, अपना अहित करनेवाला भी मित्र हो जाता है। **जगत में दान बड़ा है।** सच्ची भक्ति से थोड़ा–सा भी दान देनेवाला भोगभूमि के भोगों को तीन पल्य पर्यन्त भोगकर देवलोक में चला जाता है।

देना ही जगत में ऊँचा है। विनय सहित व स्नेह के वचन सहित होकर दान देना चाहिये, दानी को ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिये कि हम इसका उपकार कर रहे हैं। दानी तो पात्र को अपना महान उपकार करनेवाला मानता है। **लोभरूप अंधकूप में पड़े हुए को वहाँ से निकालने का उपकार पात्र बिना कौन करे?** पात्र बिना लोभियों का लोभ नहीं छूटता, पात्र बिना संसार से उद्धार करनेवाला दान कैसे बनता? धर्मात्माजनों को तो पात्र के मिलने के समान तथा दान देने के समान अन्य कोई आनन्द नहीं है।

बड़ापना, धनाढ्यपना, ज्ञानीपना पाया है तो दान में ही उद्यम करो। छहकाय के जीवों को अभयदान देवो, अभक्ष्य का त्याग करो, बहुत आरंभ को घटाओ, देख–सोधकर उठाना–धरना करो। यत्नाचार रहित निर्दयी होकर प्रवर्तन नहीं करो। किसी प्राणीमात्र को मन–वचन–काय से दु:खी नहीं करो। दुखियों पर करुणा ही करो। ये ही गृहस्थ का अभयदान है। इससे संसार में जन्म, मरण, रोग, शोक, दारिद्र, वियोगादि संताप के पात्र नहीं बनोगे।

संसार के बढ़ानेवाले, हिंसा को पुष्ट करनेवाले, मिथ्याधर्म की प्ररूपणा करनेवाले, युद्धशास्त्र, श्रृंगारशास्त्र, मायाचार के शास्त्र, वैद्यक शास्त्र, रस–रसायन, मन्त्र–जन्त्र, मारण–वशीकरण शास्त्र महापाप के प्ररूपक हैं, इनको अति दूर से ही त्याग देना चाहिये।

भगवान वीतराग सर्वज्ञ के कहे, दयाधर्म की प्ररूपणा करनेवाले, **स्याद्वाद रूप अनेकान्त का प्रकाश करनेवाले, नय-प्रमाण द्वारा तत्त्वार्थों की प्ररूपणा करनेवाले शास्त्रों को अपने आत्मा को पढ़ने-पढ़ाने के द्वारा आत्मा के उद्धार के लिये अन्य को व अपने लिये दान करो।** अपनी संतान को ज्ञान दान करो तथा अन्य धर्मबुद्धिवाले धर्म के रोचक इच्छुक हों, उनको शास्त्र दान करो। जो ज्ञान के इच्छुक हैं वे ज्ञानदान के लिये पाठशाला की स्थापना करते हैं; क्योंकि धर्म का स्तम्भ ज्ञान ही है। जहाँ ज्ञानदान होगा वहाँ धर्म रहेगा। अत: ज्ञानदान में प्रवर्तन करो। ज्ञानदान के प्रभाव से निर्मल केवलज्ञान प्राप्त होता है।

रोग का नाश करनेवाली प्रासुक औषधि का दान करना चाहिये। औषधिदान बड़ा उपकारक है। रोगी को तुरंत तैयार औषधि मिल जाय उसका बड़ा आनन्द है। किसी निर्धन को जिसकी सेवा– टहल करनेवाला कोई नहीं हो, यदि उसे तैयार बनी हुई औषधि मिल जाय तो वह उसे निधियों के लाभ के समान मानता है। औषधि लेकर जो स्वस्थ हो जाता है वह समस्त व्रत–तप–संयम पालता है, ज्ञान का अभ्यास करता है। औषधिदान के द्वारा वात्सल्य, स्थितिकरण, निर्विचिकित्सा इत्यादि अनेक गुण पुष्ट होकर प्रकट होते हैं। औषधिदान के प्रभाव से रोगरहित देवों की वैक्रियिक देह प्राप्त होती है।

आहारदान समस्त दानों में प्रधान है। प्राणी का जीवन, शक्ति, बल, बुद्धि ये सभी गुण आहार बिना नष्ट हो जाते हैं। जिसने आहारदान दिया उसने प्राणियों को जीवन, शक्ति, बल, बुद्धि सभी कुछ दिया। आहारदान से ही मुनि व श्रावक का समस्त धर्म चलता है। आहार बिना ये मार्ग भ्रष्ट हो जायेंगे। आहार ही सभी रोगों का नाश करनेवाला है। जो आहारदान देता है वह मिथ्यादृष्टि भी भोगभूमि में कल्पवृक्षों के द्वारा प्रदत्त दश प्रकार के भोगों को असंख्यात काल तक भोगता है, तथा क्षुधा–तृषादि की बाधा रहित होकर आँवले के बराबर तीन दिन के अंतर से भोजन करता है। सभी प्रकार के दु:ख, क्लेश आदि से रहित होकर असंख्यात वर्ष तक सुख भोगकर देवलोक में जाकर उत्पन्न होता है। अत: धन को पाकर चार प्रकार के दान में प्रवर्तन करो। जो निर्धन हैं वे भी अपने भोजन में से जितना बने उतना दान करो। आपको आधा भोजन मिले तो उसमें से भी ग्रास दो ग्रास दु:खी, भूखे, दीन दरिद्रियों को दो।

मिष्ट वचन बोलना भी बड़ा दान है। आदर, सत्कार, विनय करना, स्थान देना, कुशल पूँछना ये महादान हैं। दुष्ट विकल्पों का त्याग करो, पापों में प्रवृत्ति का त्याग करो, चार कषायों का त्याग करो, विकथा करने का त्याग करो, दूसरों के सत्य व असत्य दोष कभी नहीं कहो। अन्याय का धन ग्रहण करने का दूर से ही त्याग करो।

हे ज्ञानी जनो! यदि अपना हित चाहते हो तो दुःखी जीवों को तो दान करो, तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि गुणों के धारकों का महाविनय पूर्वक सम्मान करो। समस्त जीवों के प्रति करुणा करो। मिथ्यादर्शन का त्याग करो। राग–द्वेष–मोह के धारक कुदेव, आरंभ–परिग्रह के धारक भेषधारी कुगुरु, हिंसा के पोषक रागद्वेष को पुष्ट करनेवाले मिथ्यादृष्टियों के शास्त्र – इनकी वंदना, स्तवन, प्रशंसा करने का त्याग करो। क्रोध, मान, माया, लोभ – इनके निग्रह करने में बड़ा प्रयत्न करो। क्लेश देने के कारण अप्रिय वचन, गाली के वचन, अपमान के वचन, मद सहित वचन कभी नहीं कहो। इस प्रकार दूसरों को दुःख के कारण, अपने यश को नष्ट करनेवाले, धर्म को नष्ट करनेवाले मन–वचन–काय के प्रवर्तन का त्याग करो। इस प्रकार त्याग धर्म का संक्षेप में वर्णन किया । ८।

उत्तम आकिंचन्य धर्म

अब उत्तम आकिंचन्य धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। **अपने ज्ञानदर्शनमय स्वरूप के बिना अन्य किंचिन्मात्र भी मेरा नहीं है, मैं किसी अन्य द्रव्य का नहीं हूँ - ऐसे अनुभव को आकिंचन्य धर्म कहते हैं।** हे आत्मन् ! अपने आत्मा को देह से भिन्न, ज्ञानमय, अनुपम, स्पर्श–रस–गंध–वर्ण रहित, अपने स्वाधीन ज्ञानानन्द सुख से परिपूर्ण, परम अतीन्द्रिय, भयरहित अनुभव करो।

यह देह है, वह मैं नहीं हूँ। देह तो रस, रक्त, हड्डी, मांस, चाममय, जड़, अचेतन है। **मैं इस देह से अत्यन्त भिन्न हूँ।** ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आदि जाति–कुल देह के हैं, ये मेरे नहीं है। स्त्री, पुरुष, नपुंसक लिंग देह के हैं, मेरे नहीं है। यह गोरापना, सावलापना, राजापना, रंकपना, स्वामीपना, सेवकपना, पण्डितपना, मूर्खपना इत्यादि समस्त रचना कर्म के उदय जनित देह की है, **मैं तो ज्ञायक हूँ। ये देह का संबंध मेरा स्वरूप नहीं है।** मेरा स्वरूप तो अन्य द्रव्य की उपमा रहित अनुपम है।

ताता (गर्म), ठंडा, नरम, कठोर, लूखा, चिकना, हलका, भारी – यह आठ प्रकार का स्पर्श है, वह हमारा रूप नहीं हैं, पुद्गल का रूप है। ये खट्टा, मीठा, कडुआ, कषायला, चिरपरा–पाँच प्रकार का रस, सुगन्ध–दुर्गन्ध ये दो प्रकार की गन्ध, तथा काला, पीला, हरा, सफेद, लाल – ये पाँच प्रकार का वर्ण मेरा स्वरूप नहीं है, पुद्गल का स्वरूप है।

मेरा स्वभाव तो सुख से परिपूर्ण है, परन्तु यहाँ कर्म के आधीन दुःखों से व्याप्त हो रहा हूँ। मेरा स्वरूप इंद्रिय रहित अतीन्द्रिय है। इंद्रियाँ पुद्गलमय कर्म द्वारा की हुई हैं। मैं समस्त भय रहित, अनिवाशी, अखण्ड, आदि–अन्त रहित, शुद्ध, ज्ञान स्वभाव हूँ; परन्तु अनादिकाल से जैसे स्वर्ण तथा पाषाण मिला हुआ है, उसी तरह क्षीर–नीर के समान कर्मों से अनादिकाल से मिला हुआ चला आ

रहा हूँ। **मिथ्यात्व नाम के कर्म के उदय से अपने स्वरुप के ज्ञान से रहित होकर देहादि पर-द्रव्यों को अपना स्वरुप जानकर अनन्तकाल से मैनें परिभ्रमण किया है। अब कोई आवरणादि के किंचित् दूर होने से श्रीगुरुओं के द्वारा उपदेशित परमागम के प्रसाद से अपना तथा पर में स्वरुप का ज्ञान हुआ है।**

जैसे रत्नों का व्यापारी जड़े हुए पाँच वर्ण के रत्नों के आभरणों में गुरु की कृपा से तथा निरन्तर अभ्यास से मिले हुए डाँक के रंग को तथा मणि के रंग को, तोल को तथा मूल्य को अलग–अलग जान लेता है; उसी प्रकार **परमागम के निरन्तर अभ्यास से मेरे ज्ञान स्वभाव में मिले हुए राग, द्वेष, मोह, कामादि, मैल को भिन्न जाना है; तथा अपने ज्ञायक स्वभाव को भिन्न जाना है।** इसलिये अब जिस प्रकार से भी राग–द्वेष–मोहादि भावकर्मों में तथा कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए विनाशीक शरीर, परिवार, धन संपदा आदि परिग्रह में मुझे **ममताबुद्धि** फिर अन्य जन्म में भी नही उत्पन्न होवे, उस प्रकार से आकिंचन्य भावना भाता हूँ।

यह आकिंचन्य भावना मुझे अनादिकाल से नहीं उत्पन्न हुई। सभी पर्यायों को अपना रुप मानता रहा, तथा राग–द्वेष–मोह–क्रोध–कामादि भाव जो कर्मकृत विकार थे, उनको अपने रुप अनुभव करके विपरीत भाव करते हुए उनसे घोर कर्म बंध ही किया। अब मैं आकिंचन्य भावना में विघ्नों का नाश करनेवाले पाँचों परम गुरुओं की शरण से निर्विघ्न आकिंचनपना ही चाहता हूँ, तीनलोंक में किसी अन्य वस्तु को नहीं चाहता हूँ। यह आकिंचनपना ही संसार समुद्र से तारने का जहाज हो जाये। परिग्रह को महादु:खरुप तथा बंध का कारण जानकर छोड़ना वह आकिंचन्य धर्म है।

जिसे आकिंचनपना होता है उसे परिग्रह में वांछा नहीं रह जाती है, आत्मध्यान में लीनता होती है, देहादि में तथा बाह्य वेष में अपनापन नहीं रह जाता है, तथा अपना स्वरुप जो रत्नत्रय है उसी में प्रवृत्ति होती है। इन्द्रियों के विषयों में दौड़ता मन रुक जाता है, देह से स्नेह छूट जाता है। सांसारिक देवों का सुख, इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्ती का सुख भी दु:ख दिखता है; इनकी वांछा कैसे करेगा? परिग्रह, रत्न,स्वर्ण, राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री पुत्रादि को उसी प्रकार छोड़ देता है, जिस प्रकार ममता रहित होकर जीर्ण तृण छोड़ने में विचार नहीं करना पड़ता है। आकिंचन्य तो परम वीतरागपना है, जिनका संसार का किनारा आ गया है, उसकी ही यह आकिंचन्यधर्म होता है।

जिनके आकिंचनपना होता है उनके परमार्थ जो शुद्ध आत्मा उसका विचार करने की शक्ति प्रकट होती ही है, पंच परमेष्ठी में भक्ति होती ही है, दुष्ट विकल्पों का नाश होता ही है, इष्ट– अनिष्ट भोजन में रागद्वेष नष्ट हो ही जाता है, केवल पेटरुप खाड़े को भरना है, अन्य रस–नीरस भोजन का विचार चला जाता है।

समस्त धर्मों में प्रधान धर्म आकिंचन्य ही मोक्ष का निकट समागम करानेवाला है। अनादिकाल से जितने सिद्ध हुये हैं वे आकिंचन्य धर्म से ही हुए हैं, तथा आगे भी जो तीर्थंकरादि सिद्ध होंगे वे आकिंचन्य धर्म ही से होंगे। यद्यपि आकिंचन्य धर्म प्रधानरुप से साधुओं के ही होता है, तथापि

एकदेश धर्म का धारक गृहस्थ भी उस आकिंचन्य धर्म को ग्रहण करने की इच्छा रखता है। जो गृहाचार में मंदरागी होकर अतिविरक्त होता है, प्रामाणिक परिग्रह रखता है, आगामी वांछा रहित है, अन्याय का धन परिग्रह कभी नहीं ग्रहण करता है, अल्प परिग्रह में अति संतोषी होकर रहता है, परिग्रह को दुःख का देनेवाला तथा अत्यन्त अस्थिर मानता है, उसके ही आकिंचन्य भावना होती है। इस प्रकार आकिंचन्य धर्म का वर्णन किया।९।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

अब उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म के स्वरुप का वर्णन करते हैं। **समस्त विषयों में अनुराग छोड़कर ब्रह्म जो ज्ञायक स्वभाव आत्मा उसमें चर्या अर्थात् प्रवृत्ति करना वह ब्रह्मचर्य हैं।**

हे ज्ञानीजनो! यह ब्रह्मचर्य नाम का व्रत बड़ा दुर्द्धर है। सभी बेचारे जो विषयों के वश होने से आत्मज्ञान से रहित हैं, वे इसे धारण करने में समर्थ नहीं हैं। जो मनुष्यों में देव के समान हैं वे इसे धारण करने में समर्थ हैं। अन्य रंक, विषयों की लालसा के धारक ब्रह्मचर्य धारण करने में समर्थ नहीं हैं। यह ब्रह्मचर्यव्रत महादुर्द्धर है। जिसके ब्रह्मचर्य होता है उसे समस्त इन्द्रियों तथा कषायों को जीतना सुलभ है।

हे भव्य हो! स्त्रियों के सुख में रागी जो मनरुप मदोन्मत्त हाथी है उनको वैराग्यभावना में रोक करके, तथा विषयों की इच्छा का अभाव करके दुर्द्धर ब्रह्मचर्य धारण करो। यह कामभाव चित्तरुप भूमि में उत्पन्न होता है। काम से सताये जाने पर यह जीव नहीं करनेयोग्य ऐसे पाप भी कर डालता है, यह काम मन का मथन करता है, मन के ज्ञान को नष्ट कर देता है, इसी कारण इसे **मनमथ** कहते हैं, ज्ञान के नष्ट हो जाने पर ही स्त्रियों के महादुर्गन्धयुक्त निंद्य शरीर को रागी होकर सेवन करता है।

कामभाव से अंधा हो जाने पर महा अनीति को प्राप्त होकर अपनी तथा परकी नारी का विचार ही नहीं करता है। इस अन्याय से मैं यहाँ पर ही मारा जाऊँगा। राजा का तीव्र दण्ड भोगना पड़ेगा, यश मलिन हो जायगा, धर्म से भ्रष्ट हो जाऊँगा, सत्यार्थ बुद्धि नष्ट हो जायेगी, मरण करके नरकों में घोर दुःख असंख्यातकाल पर्यन्त भोगना होंगे, फिर असंख्यातकाल तक तिर्यंचों के दुःखरूप अनेक भव धारण करना होंगे, फिर कुमनुष्यों में, अंधा, लूला, कुबड़ा, दरिद्री, इन्द्रिय विकल, बहरा, गूंगा, चांडाल, भील, चमारों के नीच कुलों में उत्पन्न होकर,फिर त्रस स्थावरों में अनन्तकाल परिभ्रमण करुँगा– ऐसा सत्य विचार कामी के उत्पन्न नहीं होता है।

इस काम के नाम के अर्थ भी जगत के जीवों को स्पष्ट प्रकट करते हैं। कं अर्थात् खोटा, दर्प अर्थात् गर्व उत्पन्न करता है, अतः इसे कंदर्प कहते हैं। अति कामना अर्थात् इच्छा को उत्पन्न करके दुःखी करता है, अतः इसे **काम** कहते हैं। इसके कारण अनेक जीव तिर्यच तथा मनुष्यों के भवों में लड़–लड़कर मर जाते हैं, अतः इसे मार कहते हैं। यह संवर का बैरी है, अतः इसे संवरारि कहते हैं। बह्म जो तप–संयम उससे यह सू अर्थात् सुवति चलायमान करता है, अतः इसे **ब्रह्मसू**

कहते हैं। इस प्रकार अनेक दोषों के नाम भी कहे हैं। ऐसा जानकर मन–वचन–काय से अनुराग पूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत पालो। ब्रह्मचर्य सहित होने पर ही संसार के पार जाओगे।

ब्रह्मचर्य बिना व्रत-तप समस्त निस्सार है। ब्रह्मचर्य बिना सकल कायक्लेश निष्फल है। ब्राह्य स्पर्शन इंद्रिय के सुख से विरक्त होकर, अंतरंग अपना परमात्म स्वरुप जो आत्मा है उसकी उज्ज्वलता देखो। जैसे भी अपना आत्मा काम के राग से मलिन नहीं हो, वैसे ही यत्न करो। ब्रह्मचर्य से दोनों लोक भूषित हो जाते हैं।

यदि शील की रक्षा चाहते हो, उज्ज्वल यश चाहते हो, धर्म चाहते है, अपनी प्रतिष्ठा चाहते हो तो चित्त में **परमागम की शिक्षा इस प्रकार धारण करो-** स्त्रियों की कथा नहीं सुनो, नहीं कहो, स्त्रियों के रागरंग–कौतूहल नाटक–दृश्य नहीं देखो। ये मेला, सिनेमा देखना परिणाम बिगाड़ते हैं। व्यभिचारी पुरुषों की संगति का त्याग करना; भांग, तम्बाखू, जरदा, मादक वस्तु भक्षण नहीं करना; ताम्बूल, पुष्पमाला, इत्र, फुलेलादि शीलभंग–व्रतभंग के कारणों को दूर से ही टालो।

गीत–नृत्यादि कामोद्दीपन के कारणों का परिहार करो, रात्रि भोजन छोड़ो, विकार करने के कारण लोक विरुद्ध वस्त्र– आभरण नहीं पहनो, एकान्त में किसी भी स्त्री मात्र का संसर्ग नहीं करो। रसना इंन्द्रिय की लम्पटता छोड़ो, जिह्वा इंन्द्रिय की लम्पटता के साथ हजारों दोष आ जाते हैं, इसी से समस्त उच्चता, यश, धर्म नष्ट हो जाता है; समता भाव को तो वह स्वप्न में भी नहीं याद करता है; लोक व्यवहार भ्रष्ट हो जाता है; ब्रह्मचर्य भंग हो जाता है। अत: जो आत्मा के हित का इच्छुक हो वह एक ब्रह्मचर्य की ही रक्षा करे। इस प्रकार ब्रह्मचर्य धर्म का वर्णन किया ।१०।

इस प्रकार ये धर्म के दश लक्षण सर्वज्ञ भगवान ने कहे हैं। जिसके ये दश चिह्न प्रकट होते हैं, उसके धर्म है ऐसा जानना। उत्तम क्षमादि धर्मों के घातक– बैरी क्रोधादि हैं, उनसे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते है, अत: उन्हें दूर करो तथा क्षमादि में अनेकगुण हैं, उनकी भावना बारम्बार भावो।

क्षमाधर्म : जो क्षमा है वह अपने ही प्राणों की रक्षा है, धन की रक्षा है, यश की रक्षा है, धर्म की रक्षा है। व्रत, शील, संयम, सत्य की रक्षा एक क्षमा से ही होती है। कलह के घोर दु:खों से अपनी रक्षा एक क्षमा ही करती है। समस्त उपद्रव तथा बैर से क्षमा ही रक्षा करती है।

क्रोध है वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का मूल से ही नाश करने वाला है। क्रोधी अपने ही प्राणों का नाश करता है। क्रोध से प्रचण्ड रौद्रध्यान प्रकट होता है। क्रोधी एक क्षण मात्र में आत्म–घात करके मर जाता है। कुए में, बावड़ी में, तालाब में, नदी में, समुद्र में डूबकर मर जाता है। शस्त्रघात, विषभक्षण, झंपापातादि (झंझावातादि) अनेक कुकर्म करके आत्मघात कर लेता है। क्रोधी में अन्य को मारने की दया नहीं होती है। वह अपने पिता को, पुत्र को, भाई को, मित्र को, स्वामी को, सेवक को, गुरु को एक क्षण मात्र में मार डालता है। **क्रोधी घोर नरक का पात्र है।**

क्रोधी महाभयंकर है, समस्त धर्म का नाश करनेवाला है। क्रोधी के सत्य वचन नहीं होता हैं; वह तो अपने को, पर को, समभाव को, धर्म को जला देनेवाला, कुवचनरुप अग्नि को ही उगलता

है। क्रोधी है वह धर्मात्मा, संयमी, शीलवान, मुनि तथा श्रावकों को चोरी व अन्याय के झूठे दोष, कलंक लगाकर दूषित करता है। क्रोध के प्रभाव से ज्ञान कुज्ञान हो जाता है, आचरण विपरित हो जाता है, श्रद्धान भ्रष्ट हो जाता है, अन्याय में प्रवृत्ति हो जाती है, नीति का नाश हो जाता है, अत्यन्त हठी होकर विपरीत मार्ग का प्रवर्तक हो जाता है, धर्म–अधर्म उपकार– अपकार के विचार रहित कृतध्नी हो जाता है। अतः यदि तुम वीतराग धर्म को चाहते हो तो कभी क्रोध भाव को प्राप्त नहीं होना।

मार्दव धर्म : मार्दव अर्थात् कठोरता रहित कोमल परिणामी जीव में गुरुओं की बड़ी कृपा रहती है। **मार्दव परिणामी को साधु पुरुष भी साधु मानते हैं।** कठोरता रहित पुरुष ही ज्ञान का पात्र होता है। मान रहित कोमल परिणमी को जैसा गुण ग्रहण कराना चाहे तथा जैसी कला सिखाना चाहें वह वैसी ही कला व गुण सीख लेता है। समस्त धर्म का मूल समस्त विद्याओं का मूल विनय है। विनयवान सभी को प्रिय होता है। अन्य गुण जिसमें नहीं हों ऐसा पुरुष भी विनयगुण से मान्य हो जाता है। विनय परम आभूषण है। कोमल परिणामी में ही दया भाव रहता है। मार्दव से स्वर्गलोग की अभ्युदय–सम्पदा तथा निर्वाण की अविनाशी सम्पदा प्राप्त हो जाती है।

कठोर परिणामी को शिक्षा नहीं लगती है। साधु पुरुष भी अविनयी कठोर परिणामी को दूर से ही त्यागने का परिणाम करते हैं। **जैसे पाषाण में जल प्रवेश नहीं करता है, उसी प्रकार सद्‌गुरुओं का उपदेश कठोर पुरुष के ह्रदय में प्रवेश नहीं करता है।** जो पाषाण–काष्ठादि नरमाई लिये होते हैं उनका तो बाल–बाल बराबर भी जहाँ जैसा गढ़ना चाहें, छीलना चाहें, वहाँ उतना बाल बराबर भी उतर जाता है, छिल जाता है तथा जैसी सूरत की मूरत गढ़ना चाहें, वैसी ही बन जाती है; किन्तु कोमलता रहित में जहाँ टांकी–छैनी लगाते हैं वही चिड़ककर–उतरकर दूर जा पड़ता है, शिल्पी के अभिप्राय अनुसार गढ़ाई में नहीं आता है, वैसे ही कठोर परिणामी को यथावत् शिक्षा नहीं लगती है।

अभिमानी का समस्त लोक बिना किये ही बैरी हो जाता है, परलोक में तिर्यंच तथा अति नीच मनुष्यों में असंख्यातकाल तक अनेक प्रकार से तिरस्कार का पात्र होता है। अभिमानी किसी को भी प्रिय नहीं लगता हैं। अतः कठोरता छोड़कर मार्दव भावना ही निरन्तर धारण करो।

आर्जव धर्म : कपट सभी अनर्थों की मूल है; प्रीति तथा प्रतीति का नाश करने वाला है। कपटी में असत्य, छल, निर्दयता, विश्वासघात आदि सभी दोष रहते हैं। कपटी में गुण नहीं किन्तु समस्त दोष ही रहते हैं। मायाचारी यहाँ अपयश को पाकर फिर नरक–तिर्यंचादि गतियों में असंख्यातकाल तक परिभ्रमण करता है। मायाचार रहित आर्जवधर्म के धारक में सभी गुण रहते हैं, समस्त लोक की प्रीति तथा प्रतीति का पात्र होता है, परलोक में देवों द्वारा पूज्य इन्द्र–प्रतीन्द्र आदि होता है। अतः सरल परिणाम ही आत्मा का हित है।

सत्य धर्म : सत्यवादी में सभी गुण रहते हैं। सत्यवादी सदाकाल कपटादि दोष रहित होकर जगत में भी मान्यता को प्राप्त होता है, तथा परलोक में अनेक देव, मनुष्यादि उसकी आज्ञा अपने

मस्तक के ऊपर धारण करते हैं। असत्यवादी यहाँ भी अपवाद, निंदा करने योग्य होता है, सभी की अप्रतीति का कारण है, बंधु–मित्रादि भी अवज्ञा करके छोड़ जाते हैं, राजा द्वारा जिह्वाछेद–सर्वस्व हरणादि दण्ड पाता है। परलोक में तिर्यंचगति में वचन रहित एकेंद्रिय विकलत्रयादि में असंख्यात भव धारण करता है। अत: सत्यधर्म का धारण करना ही श्रेष्ठ है।

शौच धर्म : जगत में जिसका आचरण पवित्र होता है, वही पूज्य होता है। शुचि का अर्थ पवित्रता–उज्जवलता है। जिसकी आहार–विहार अदि समस्त प्रवृत्ति हिंसा रहित हो, हिंसा के भय से यत्नाचार सहित हो, अन्य के धन में इच्छा रहित हो, अन्य की स्त्री में वांछा कभी स्वप्न में भी नहीं हो, वहीं उज्ज्वल आचरण का धारक है, उसको ही जगत पूज्य मानता है। निर्लोभी का सभी लोग विश्वास करते हैं, वही लोक में उत्तम है, ऊँर्ध्वलोक में उत्तमगति का पात्र है, लोभरहित का बहुत उज्ज्वल यश प्रगट होता है।

लोभी महामलिन सभी दोंषों का स्थान है। लोभी को निंद्य कर्मों से प्रीति होती है। लोभी को ग्राह्य–अग्राह्य, खाद्य–अखाद्य, कृत्य–अकृत्य का विचार ही नहीं होता है। यहाँ लोक में भी उसकी निन्दा, धर्म से पराङ्मुखता, निर्दयता प्रकट देखते ही हैं। लोभी धर्म, अर्थ, काम को नष्ट करके कुमरण करके दुर्गति में चला जाता है। **लोभी के हृदय में सद्गुणों को कोई स्थान नहीं रहता है।** लोभी को इसलोक में तथा परलोक में अचिन्त्य क्लेश व दु:ख प्राप्त होता है। अत:शौचधर्म का धारण करना ही श्रेष्ठ है।

संयम धर्म : संयम ही आत्मा का हित है। इस लोक में संयम का धारक सभी लोगों द्वारा वंदने योग्य है, किसी भी पाप से लिप्त नहीं होता है, इसकी इस लोक में व परलोक में अचिन्त्य महिमा है। असंयमी प्राणों का घात करके तथा विषयों में अनुराग करके अशुभ कर्मों का बन्ध करता हुआ दु:ख भोगता है। अत : संयमधर्म ही जीव का हित है।

तप धर्म : कर्मों का संवर तथा निर्जरा करने का प्रधान कारण तप है। तप ही आत्मा को कर्म मल रहित करता है। तप के प्रभाव से यहाँ ही अनेक ऋद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, तप का अचिन्त्य प्रभाव है। तप बिना काम को, निद्रा को कौन मारे? तप बिना इच्छाओं को कौन मारे? **इंन्द्रियों के विषयों को मारने में तप ही समर्थ है, आशारुपी पिशाचिनी तप से ही मारी जाती है,** काम पर विजय तप से ही होती है। तप की साधना करनेवाला परिषह–उपसर्ग आदि आने पर भी रत्नत्रय धर्म से च्युत नहीं होता है। अत: तपधर्म को धारण करना ही उचित है। तप किये बिना संसार से छुटकारा नहीं होता है। चक्रवर्ती भी राज्य को छोड़कर तप धारण करके तीन लोक में वंदने योग्य पूज्य हो जाते हैं। जो तप को छोड़कर राज्य ग्रहण करता है वह अतिनिंद्य थू–थू–कार करने योग्य हैं, तिनके से भी छोटा हो जाता है। अत: तीनलोक में तप समान महान अन्य कुछ भी नहीं है।

त्याग धर्म : परिग्रह समान भार अन्य नहीं है। जितने भी दु:ख, दुर्ध्यान, क्लेश, बैर, वियोग, शोक, भय अपमान हैं वे सभी परिग्रह के इच्छुक के होते हैं। जैसे–जैसे परिग्रह से परिणाम भिन्न